प्रकाशक
द्वारकादास
हिन्दी-साहित्य-कुटीर,
हाथीगली, वाराणसी - १

संवत् २०१७ वि०
(प्रथम संस्करण—११०० प्रति)

मूल्य चार रुपये ।

अनुक्रमणिका

अपनी बात

अपनी बीमारी के दिनों में मैं अपने जीवन से हताश हो गया था और मेरी यही धारणा बन गई थी कि अब अचानक किसी दिन इस संसार से मैं कूच कर जाऊँगा। उन्हीं दिनों मेरे मस्तिष्क में यही खटका सदैव चक्कर काट रहा था कि मेरे बाद गुरुवर प्रसाद के जीवन का वास्तविक चित्रण करना कठिन हो जायगा। अतएव उन्हीं दिनों (अप्रैल १९५७) प्रसाद अध्ययन ग्रन्थ की एक योजना मैंने बनाई और उसकी सूचना सभी अधिकारी लेखकों के पास भिजवा दी थी।

मेरी रुग्णावस्था का समाचार पढ कर साहित्यकारों ने जो सहानुभूति और चिन्ता प्रकट की उससे मुझे एक तरह से जीने का बल मिला। प्रभु ने फिर से जीवन दान दिया। अपने उन कृपालु बन्धुओं के प्रति मैं हृदय से कृतज्ञता प्रकट करता हूँ।

आदरणीय अन्नपूर्णानन्द जी ने लिखा—आप बीमार हैं यह सुनकर दुख हुआ। अब कैसी तबीयत है? कृपया हाल दीजियेगा। आप को बहुत दिन जीना है और बहुत काम करना है। ईश्वर आप को स्वस्थ्य रखें।

मान्यवर मैथिलीशरण गुप्त जी ने लिखा—आप की अस्वस्थता सुनकर चिन्ता हुई। प्रभु आप को शीघ्र स्वस्थता प्रदान करें। यही कामना है।

भाई रामकुमार वर्मा ने लिखा—अपने सम्बन्ध में आपने जो 'जीवन पर भरोसा नहीं है' आदि वाक्य लिखे हैं, उनसे मुझे बड़ा क्लेश हुआ। आप के सम्बन्ध में मैं ऐसी बात की कल्पना भी नहीं करना चाहता। कृपया लिखे कि मैं किस प्रकार आप के काम आ सकता हूँ।

भाई परिपूर्णानन्द ने लिखा—'मुझे स्वयं अब अपने जीवन पर भरोसा नहीं' भाई ऐसी बात मत कहो। मै तो चाहता हूँ कि हम दो चार जो रह गए हैं वह एक बरस से ज्यादा आगा पीछा न दें।

प्रियवर कृष्णानन्द गुप्त ने लिखा—बहुत सी पुरानी स्मृतियाँ जाग्रत हो गई। पर यह जान कर चिन्ता भी हुई कि आप अस्वस्थ हैं। ऐसी अवस्था म एक इतने बडे कार्य का बीडा उठाना आप के ही बते की बात थी।

अपने सभी बन्धुओं के उत्साह प्रदान करने वाले पत्र और प्रार्थना पर विधाता ने जैसे ध्यान दिया और मैं अभी तक जीता हूँ। कैसे जीता हूँ? यह भी एक रहस्य है।

और जी कर भी प्रसाद अध्ययन ग्रन्थ मैं हिन्दी जगत के सम्मुख उपस्थित न कर सका। तब मैंने स्वयं संस्मरण के रूप में अपने विचारों को एकत्र कर लेना आवश्यक समझा। इस तरह यह पुस्तक 'प्रसाद और उनके समकालीन' प्रसाद अध्ययन ग्रन्थ की प्रस्तावना मात्र है। जिसे मैं बिना पूंजी के कर सकता था वह प्रस्तुत है।

अध्ययन ग्रंथ के लिए केवल वादे बहुत हुए। लेकिन ध्यान देने वालों में भाई सूर्यनारायण व्यास ने अत्यन्त भावपूर्ण संस्मरण लिख कर भेजा है। मित्रवर देव नारायण सिंह और श्री० प्रकाशचन्द्र गुप्त के लेख भी मेरी फाइल में सुरक्षित रखे हैं। विधाता जाने कब वह योजना पूरी होगी!

तीस वर्ष पहले की बात है। एक बार मैं बहुत बीमार पड़ा था। मेरे मरण का प्रश्न उस समय भी उपस्थित हुआ था। हताश होकर मैंने प्रसाद जी से कहा था—मेरा कोई भरोसा नहीं है कि कब मेरा जीवन समाप्त हो जाय। मैंने साहित्य का कोई ठोस कार्य नहीं किया है, फिर भी मेरे बाद मेरे ऊपर कुछ आपको लिखना ही पड़ेगा।

उन्होंने कहा था—वह सब तुम्हें लिखना होगा मुझे नहीं। उनकी आँखें भर आई थीं।

विधाता की जैसे वही मंशा थी जो उनकी वह बातें कर्तव्य रूप में मेरे सम्मुख सचमुच आईं। आज उन्हें अधूरे आकार में बटोरता हुआ मैं सन्तोष की सांस ले रहा हूँ।

इस पुस्तक में प्रसाद के समकालीनों में बहुतेरे नाम लोगों को छूटे मिलेंगे। यह सब अध्ययन ग्रन्थ अथवा इस पुस्तक के दूसरे संस्करण में पूर्ण किये जाने की आशा है। आगे भगवान जाने!

और अन्त में मैं सम्पादक, लेखक, आलोचक और पाठकों को विश्वास दिलाता हूँ कि किसी तरह की भी ईर्षा द्वेश अथवा अपमानित करने की मन्शा से मैंने अपनी लेखनी का उपयोग नहीं किया है। मेरा मकसद तो केवल सही चित्र प्रस्तुत करने का है। अगर इससे किसी को ठेस पहुँची हो तो मैं उनसे क्षमा प्रार्थी हूँ।

इस कार्तिक की अमावस्या की काली रात में अगणित दीप शिखाओं का उज्ज्वल प्रकाश आलोकित हो रहा है। और ५७ वर्ष पहले आज की ही रात (दीवाली) मैं उत्पन्न हुआ था।

बी १९/८३, ह्युरियाबीर,
भेलूपुर, वाराणसी।

विनोदशङ्कर व्यास

अपने बचपन के

साहित्यिक सखा बेचन

'उग्र'

को
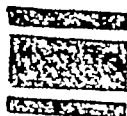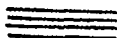
प्रसाद की कुण्डलि

प्रसाद जी का जन्म १९४६ (वि०) के माघ मास में शुक्ल १० गुरुवार को हुआ था, उनकी कुण्डलि इस प्रकार है। इष्ट ४/५ रोहिणी सूर्य ९/१८ लग्न १०/१८।

भारतेन्दु और प्रसाद

प्राचीन काल से काशी नगरी विद्या और कला की केन्द्र रही है। यहाँ की मिट्टी का प्रभाव और यहाँ का जीवन अपनी विशेषता रखता है। कला के प्रति रुचि और ज्ञान की जिज्ञासा इस भूमि के जल-वायु का प्रभाव है। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र और प्रसाद इसी नगरी में उत्पन्न हुए थे। अतएव रसिकता का सम्पूर्ण अधिकार उनकी नस-नस में भरा था।

संगीत और मेला, लीला और नाटक का जितना प्रचलन इस नगर में था उतना संसार के किसी भी अन्य नगर में संभव नहीं था। सावन में कजरी, कुआर में रामलीला, फागुन में होली और चैत में चैती यह सब बनारस की अपनी निजी पैतृक सम्पत्ति है। भारतेन्दु-काल में यहाँ का सार्वजनिक सम्मेलन अपनी निश्चित गति मे था। प्रसाद-युग में आते आते यह सब निर्जीव और शिथिल हो रहा था। इसका एक कारण यह भी था कि काशी नरेश की गुण ग्राहकता का लाभ काशी की जनता को सार्वजनिक रूप से प्राप्त था। महाराज स्वयं ऐसे अवसरों पर बड़े उत्साह से भाग लेते थे। काशी वासियों की दृष्टि में भगवान् शंकर के बाद काशी नरेश के प्रति भक्ति थी। उनके आते ही महादेव, महादेव की ध्वनि वायु-मंडल में गूँज उठती थी।

गीत, लीला और नाटक में नागरिक अपना मनोरंजन करते। जीवन की कटुता और अभाव उन्हें उतना व्यग्र और चिन्तित नहीं करता था। हमारे नगर में केवल धनियों के पास ही मनोरंजन का साधन नहीं था बल्कि एक निर्धन व्यक्ति भी अपना समय प्रसन्नतापूर्वक व्यतीत कर सकता था।

उस समय कविता ब्रज-भाषा में ही होती थी। कवि सम्मेलनों में समस्यापूर्ति का प्रचलन था। पान वाले की दूकान पर भी खड़े होकर कोई कविता का आनन्द ले सकता था। भारतेन्दु के गीत मार्ग में चलते-फिरते सुनाई पड़ते थे।

भारतेन्दु रसिकों के राजा थे। उनके समय में कवि सम्मेलन और गुणियों के कला प्रदर्शन की व्यवस्था नगर में प्रायः हुआ करती थी। मनुष्य स्वयं आनन्द का उपभोग करना खूब जानता है लेकिन दूसरों को प्रसन्न देखकर प्रसन्न होना कठिन है। भारतेन्दु और प्रसाद ऐसे ही महान व्यक्तियों में थे जो औरों को हँसाकर हँसते थे।

संसार में अपने स्वार्थ में डूबे मनुष्य प्रति पग पर दिखाई पड़ते हैं। दूसरों की चिन्ता किसी को नहीं रहती। जो दूसरों के लिए कुछ करते हैं वे ही महान माने जाते हैं। कला और विद्या का आदर तभी होता है जब सम्पन्न उन्हें प्रश्रय देते हैं। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र स्वयं गुणी थे और उनके यहाँ गुणियों का सम्मान होता था। यही कारण था कि उनके संसर्ग में रहने वाले [illegible] और साहित्य में बहुत से महत्वपूर्ण कार्य कर गये हैं। [illegible] कल्याणमय थे। उन्हें विश्वास था कि उनके [illegible] इतिहास उनके युग को नहीं [illegible] करेगा। तभी [illegible] थे—कहेंगे [illegible] प्यारे हरिचन्द की [illegible]।

[illegible] था।

भारतेन्दु का प्रभाव प्रसाद पर व्याप्त था। उनकी कविता और नाटकों का उन्होंने पूर्ण रूप से अध्ययन किया था। भारतेन्दु ने अपने जीवन-काल में जो कार्य शेष छोड़ा था उसकी पूर्ति करना ही प्रसाद का लक्ष्य था।

साहित्य और भाषा के निर्माण में कोई विशेष शताब्दि का इतिहास बड़ा उज्ज्वल दिखाई पड़ता है। इसका प्रधान कारण यही होता है कि उस काल में कुछ ऐसे व्यक्ति उत्पन्न होते हैं जो अपनी जन्मजात प्रतिभा का चमत्कार सदैव के लिए छोड़े जाते हैं। वे स्वयं निर्माण करते हैं और दूसरों को भी उत्साहित करते हैं और उन्हें पथ-प्रदर्शक का गौरव प्राप्त होता है। भारतेन्दु और प्रसाद दोनों में यही विशेषता थी।

भारतेन्दु ने खड़ी बोली का रूप रंग संवारा, प्रसाद ने उसे परिष्कृत रूप दिया। भारतेन्दु काल में साहित्य का क्षेत्र भारतवर्ष तक ही सीमित था। केवल अंग्रेजी का अध्ययन आवश्यक था, वह भी राजकाज के लिए। प्रसाद युग में विश्व-साहित्य का विशाल क्षेत्र बन गया था। देश में शिक्षा का प्रचार बढ़ रहा था। अतएव साहित्य की सीमा विस्तृत हो गई थी। कालेज और विश्वविद्यालयों में अध्ययन की सामग्री एकत्रित होने लगी थी। निर्माता की दृष्टि सब तरफ लगी रहती है। जो वह खुद नहीं कर सकता उसे दूसरों को पूर्ण करने की प्रेरणा देता है।

भारतेन्दु काल के बाद द्विवेदी काल के आरम्भ में गति साधारण थी। बड़ी प्रतिभाओं का उदय नहीं हुआ था। केवल जानसन की भांति द्विवेदी जी भाषा का शृंगार करते रहे। जिस साहित्य में तुलसी, सूरदास, कबीर के अतिरिक्त सैकड़ों अनेक नक्षत्र आकाश मंडल में अपना प्रकाश उड़ेल रहे थे, वहाँ केवल तुक बन्द और भाटों की प्रतिभा पर साहित्य का निर्माण नहीं हो सकता था।

भारतेन्दु और प्रसाद दोनों की मनोवृत्ति निर्माण की ओर लगी थी। दोनों की प्रतिभा सर्वतोमुखी थी। साहित्य के प्रत्येक अंग पर दोनों का ध्यान था। विशेष रूप से भारतेन्दु को कवि का गौरव प्राप्त था—प्रसाद को भी वही, किन्तु इतिहास, नाटक, उपन्यास आदि अन्य विषयों पर उनकी लेखनी का प्रयोग साधारण नहीं था।

सौभाग्य से मेरे पितामह स्व० पं० रामशंकर व्यास को भारतेन्दु के अत्यन्त निकट रहने का अवसर मिला था, वैसा ही जैसा मुझे प्रसाद से मिला था। पितामह ने ही भारतेन्दु की उपाधि बाबू हरिश्चन्द्र के लिए प्रस्तावित की थी और आज भारतेन्दु का अर्थ ही हिन्दी भाषा में स्वर्गीय हरिश्चन्द्र जी का नाम समझा जाता है।

१८८७ ई० (विक्रमाब्द १९४४— हरिश्चन्द्र सम्वत ३) मे हरिश्चन्द्र कला का दूसरा भाग खड्ग विलास प्रेस से प्रकाशित हुआ था। इसमें

भारतेन्दु वैष्णवी सम्प्रदाय के अनुगामी थे। वह भगवान विष्णु के उपासक थे। हरिश्चन्द्र कला के चतुर्थ भाग की भूमिका में प्रकाशक बाबू रामदीन सिंह लिखते हैं—"श्रीमान् भारतेन्दु परम वैष्णव और दृढ़ भक्त थे, और जैसा कि उन्होंने प्राय लिखा है उनके ग्रन्थों के अधिकारी वे ही लोग हैं कि जिनको श्री मदानद कन्द यशोदानन्दन के चरण-विन्दों में सच्ची प्रीति है।"

इस तरह हम देखते हैं कि भारतेन्दु की अधिकाश रचनायें भक्ति रस में परिपूर्ण हैं। कविता के क्षेत्र में तो वह सम्राट थे। भाषा उनकी बोलचाल की थी। संस्कृत का ज्ञान उन्हें अथाह था क्योंकि महाकवि जयदेव के गीतगोविन्द का शब्दार्थ भाषा की कविता में प्रस्तुत करना अत्यन्त जटिल कार्य था। उसे पढकर ही हमारा विश्वास उनकी आशु-कविता के प्रति दृढ़ हो जाता है।

भारतेन्दु के लिए सभी विषय सरल थे। महारानी विक्टोरिया के समय के दिल्ली दरबार का वर्णन उनकी लेखनी से इतना स्वाभाविक हुआ है कि अनेक युगों के बाद भी उसे पढकर ऐसा विश्वास होता है कि हम स्वय अपनी आँखों से वह सब दृश्य देख रहे हैं। उनकी लेखनी से उनकी रुचि और मनोवृत्ति का परिचय भी हमें पर्याप्त रूप से प्राप्त हो जाता है जैसे दिल्ली दरबार के वर्णन में पढ़िये। "प्रायः लोगों को इस बात के जानने का उत्साह होगा कि खाँ (किलात के) का रूप और वस्त्र कैसा था। नि सन्देह जो कपड़ा खाँ साहब पहने थे वह उनके साथियों से बहुत अच्छा था तो भी उनकी या उनके किसी साथी की शोभा उन मुगलों से बढ़ कर न थी जो बाजार में मेवा लिये घूमा करते हैं, हाँ कुछ फर्क था तो इतना था कि लम्बी गझिन दाढी के कारण खाँ साहब का चेहरा बड़ा भयानक लगता था। इन्हें झंडा न मिलने का कारण यह समझना चाहिये कि

यह बिल्कुल स्वतन्त्र हैं। इन्हें आने और जाने के समय श्रीयुत वाइसराय गलीचे के किनारे तक पहुँचा गए थे पर बैठने के लिए इन्हें भी वाइसराय के चबूतरे के नीचे वही कुरसी मिली थी जो और राजाओं को। खाँ साहब के मिजाज में रूखापन बहुत है। एक प्रतिष्ठित बंगाली इनके डेरे पर मुलाकात के लिए गए थे। खाँ ने पूछा—क्यों आये हो? बाबू साहब ने कहा आपकी मुलाकात को। इस पर खाँ बोले कि अच्छा आप हमको देख चुके और हम आपको, अब जाइये।

भाषा के प्रश्न पर राष्ट्रभाषा का निर्णय भारतेन्दु ने ही किया है। प्रसाद की भाषा विद्वानों की भाषा है, सर्वसाधारण की नहीं। यह भिन्नता प्रसाद की ख्याति में बाधक बनी। दूसरे धार्मिक विषय अपना कर भारतेन्दु अधिक लोकप्रिय हुए। प्रसाद अपने एक निश्चित सिद्धान्त पर अटल थे और उसी की पूर्ति में अपनी लेखनी का उपयोग करते थे। अगणित विषय और प्रश्न उनके सम्मुख मँडराते थे लेकिन वह स्वयं उस पर अपनी लेखनी नहीं चलाते थे। पर्व और त्योहार पर कही जाने वाली कहानियों के सम्बन्ध में उन्होंने एक बार मुझसे कहा कि ऐसी कहानियों की क्या आवश्यकता है जो स्त्रियाँ गणेश चौथ, करवा चौथ आदि अवसरों पर कहती हैं।

म[illegible] कार्य के पूर्ण [illegible] इस सम्बन्ध में उन्होंने कहा—बाबू महावीर प्रसाद गहमरी [illegible] योग्यतापूर्वक कर सकते हैं। उन्हीं के आदेशानुसार [illegible] पुराण प्रकाशित हुआ था। [illegible] भारतेन्दु [illegible]।

भारतेन्दु [illegible] उदार [illegible]। [illegible] और [illegible] है— यद्यपि [illegible] [illegible]

किन्तु उसमें अनेक संस्कारों की अतिशय आवश्यकता है। प्रथम तो गोस्वामी गण अपना रजोगुणी तमोगुणी स्वभाव छोड़ेंगे तब काम चलेगा। गुरू लोगों में एक तो विद्या ही नहीं होती, जिसके न होने से शील नम्रता आदि उनमें कुछ नहीं होते। दूसरे या तो वे अति रूखे क्रोधी होते हैं या अति विलास लालस हो होकर स्त्रियों की भाति सदा दर्पण ही देखा करते हैं। अब वह सब स्वभाव उनको छोड़ देना चाहिये क्योंकि इस उन्नीसवीं शताब्दी में वह श्रद्धा अब नहीं बाकी है। अब कुकर्मी गुरू का भी चरणामृत लिया जाय वह दिन छप्पर पर गए। जितने बूढे लोग अभी तक जीते हैं उन्हीं के शील सकोच से प्राचीन धर्म इतना भी चल रहा है बीस पचीस बरस पीछे फिर कुछ नहीं है। अब तो गुरू गोसाई का चरित्र ऐसा होना चाहिए कि जिसको देख सुनकर लोगों में श्रद्धा से स्वय चित आकृष्ट हो। स्त्री जनों का मन्दिरों से सहवास निवृत किया जाय। केवल इतना ही नहीं भगवान श्री कृष्णचन्द्र की केलि कथा जो अति रहस्य होने पर भी बहुत परिमाण से जगत में प्रचलित है वह केवल अनरग उपासकों पर छोड़ दी जाय। उनके महात्म्य मत विशद चरित्र का महत्त्व यथार्थ रूप से व्याख्या करके सब को समझाया जाय। रास क्या है गोपी कौन हैं यह सब रूपक अलकार स्पष्ट करके श्रुति सम्मत उनका ज्ञान वैराग्य भक्ति बोधक अर्थ किया जाय। यह भी दबी जीभ से हम डरते डरते कहते हैं कि व्रत स्नान आदि वहीं तक रहें जहाँ तक शरीर को अति कष्ट न हो। जिस उत्तम उदाहरण के द्वारा स्थापक आचार्य गण ने आत्मसुख विसर्जन करने भक्ति सुधा से लोगों को प्रभावित कर दिया था उसी उदाहरण से अब भी गुरू लोग धर्म का प्रचार करें। बाह्य आग्रहों को छोड़कर केवल आन्तरिक उन्नत प्रेम-मयी भक्ति का प्रचार करें देखें कि दिग्दिगन्त में हरिनाम की कैसी ध्वनि उठती है

और विधर्मी गण भी इसको सिर झुकाते हैं कि नहीं। और सिक्ख, कबीर-पन्थी आदि अनेक दल के हिन्दू गण भी सब आप से आप बैर छोड़कर इस उन्नत समाज में मिल जाते हैं कि नहीं।"

वर्तमान समय में भारतेन्दु की उस दूरदर्शिता का परिणाम आज स्वयं हम अपनी आँखों से देख रहे हैं। स्वदेश और देशवासियों के लिए उनके हृदय में अपार स्नेह था। राजभक्त होते हुए भी वह अंग्रेजों के बहुत से कार्यों पर खुलकर चुटकी लेते थे। पढ़िये—

"जब से यहाँ का स्वाधीनता सूर्य अस्त हुआ उसके पूर्व समय का उत्तम शृंखला बद्ध कोई इतिहास नहीं है। मुसलमान लेखकों ने जो इतिहास लिखे भी हैं उनमें आर्य नीति का लोप कर दिया है। आशा है कि कोई माई का लाल ऐसा भी होगा जो बहुत सा परिश्रम स्वीकार करके एक बेर अपने 'बाप दादों' का पूरा इतिहास लिखकर उनकी कीर्ति चिरस्थायी करेगा।

किसी ने सच कहा है कि मुसलमानी राज्य हैजे का रोग है और अंग्रेजी राज्य क्षय का। इनकी शासन प्रणाली में हम लोगों का धन और धार्मिकता निःशेष होती जाती है। बीच में जाति पक्षपात, मुसलमानों पर विशेष दृष्टि आदि देखकर लोगों का जी और भी उदास होता है। यद्यपि रिपन के राज्य में हम लोगों ने बहुत सी आशा बांध रखी है पर वह आशा ऐसी है जैसे रोग असाध्य हो जाने पर त्रिपुरारी की आशा। अंग्रेजों ने मुसलमानों के कठिन दंड से हमको छुड़ाया और यद्यपि अनेक प्रकार से हमारा धन ले गये किन्तु पेट भरने को भीख मांगने की विद्या भी सिखा गए।

[illegible] उनकी कितनी [illegible] है। [illegible] आदि [illegible]

ही है, यही उनका अटल विश्वास था। इसकी पुष्टि में उनके प्रमाण कितने खोजपूर्ण हैं देखिए (रामायण का समय लेख)।

पुराने समय की बातों को जब सोचिये और विचार कीजिये तो उनका ठीक ठीक पता एक ही बेर नहीं लगता, जितने नये नये ग्रन्थ देखते जाइये उतनी ही नई नई बातें प्रकट होती जाती हैं। इस विद्या के विषय में बुद्धिमानों के आजकल दो मत हैं। एक तो वह जो बिना अच्छी तरह सोचे, विचारे, पुराने अंग्रेजी विद्वानों की चाल पर चलते हैं और उसी के अनुसार लिखते पढ़ते भी हैं और दूसरे वे लोग जिनको किसी बात का हठ नहीं है, जो बातें नई जाहिर होती गईं उनको मानते गये। दूसरा मत बहुत दुरुस्त और ठीक तो है पर पहिला मत मानने वालों को 'ऐंटिक्वेरियन' बनने का बड़ा सुभीता रहता है। दो चार ऐसी बची बातें हैं जिन्हें कहने ही से वे ऐंटिक्वेरियन हो जाते हैं। जो मूर्तियां मिलें वह जैनों की हैं, हिन्दू लोग तातार से आये।

(क्षत्रियों की उत्पत्ति)

हां इस बात का हम पूर्ण रूप से प्रमाण देते हैं कि भारतवर्ष में पहिले पहिले आर्य्य लोग केवल पंजाब से लेकर प्रयाग तक बसते थे। श्रीमान् जानम्योर साहब ने लाहौर के चीफ पंडित राधाकृष्ण को जो पत्र लिखा है उसमें मुक्त कण्ठ से उन्होंने स्थापन किया है कि जहां तक मैंने प्राचीन वेदादिक पुस्तकें पढीं उनसे मुझे पूरा निश्चय है कि आर्य लोग पहले इन्हीं देशों में बसते थे।......

भारतेन्दु के जीवन के अन्तिम दिनों में भगवान के प्रति उनका खिंचाव शिखर पर पहुंच गया था। ऐसा प्रतीत होता है कि अल्पावस्था में ही वह जीवन और संसार से ऊब उठे थे।

(तदीय सर्वस्व-समर्पण)

"क्या वे दिन अब इस जीवन में निस्सन्देह दुर्लभ हो गए। तो फिर ऐसे जीवन से ही क्या? हम जीवन की आशा ही क्यों करते हैं? केवल जनम भर पाप कमाने और पाप को और अपने को झूठ बदनाम करने को। धिक ! ऐसे जीवन पर। हम तो इसकी आशा इसी से करते थे कि दिन दिन हमारी चित्त वृत्ति उज्वल होगी और दिन दिन प्रेमानन्द बढ़ेगा। इस हेतु नहीं कि प्रवाह रज्जु में हम दिन दिन और जकड़ते जायेंगे और केवल जीवन भार ढोकर संसार में लिप्त होकर अन्त में आपके कहला कर भी वैसे ही डूबेंगे जैसे तुम्हारे बिना संसार डूबता है। • क्या संसार में कोई ऐसा है जिससे प्रेम करें। तो ऐसे प्रेम ही से क्या और जीवन ही से क्या। इसी से न कहा है 'जैसे उड़ि जहाज को पञ्छी फिरि जहाज पर आवै।' और जाय कहा। नाथ ! अब नहीं सही जाती। कृत्रिम प्रेम परायण और स्वार्थ पर संसार से जी बहुत ही घबराता है अस्त हो गई नाकों में दम आ गई अब नहीं सही जाता। इस चर्वित चर्वण को कब तक चबाय। सच कहते हैं अब किसी की बात भी नहीं सुहाती। यद्यपि चित्त परबस हो कर दिन दिन उलटा फँसता जाता है और संसार का और अपने जीवन का मोह बढ़ता ही जाता है पर साथ ही जी भी ऐसा मिचलाता जाता है जिसका कुछ कहना नहीं। इन के विषय में भी वैसा ही कीजिए। हाय ! आज हमने आदर किनारा कर दिया और किनारा रहे। [illegible] भी तो कितने दिनों [illegible] रहा था। और फिर [illegible] कितने आगे। [illegible] में तो कुछ [illegible] रहता है।

[illegible] की अन्त [illegible] हृदय के [illegible] परिचय [illegible] है। [illegible] आर्थिक

कठिनाइयों में ही व्यतीत हुआ। किन्तु देश और भाषा के लिए उनका त्याग और तपस्या हिन्दी साहित्य के इतिहास में स्वर्णाक्षरों से अंकित रहेगी। उन्होंने जीविका के लिए लेखनी का उपयोग कभी नहीं किया। हिन्दी का भंडार भरने में ही वह जीवन भर संलग्न थे। उनके देहान्त के पश्चात् उनकी सग्रहीत बहुत-सी अमूल्य सामग्री लुप्त हो गई इसका पता हमें उनके मित्र और प्रकाशक बाबू रामदीन सिंह के एक वक्तव्य से चलता है—

"यह दूसरा भाग (हरिश्चन्द्र कला) ऐतिहासिक विषय का अधिक उपयोगी होता, और इसमें जो कुछ लिखा गया है उसमें कहीं उत्तमोत्तम और आश्चर्यदायक प्रबन्ध मुद्रित हुए होते, परन्तु खेद है कि जितनी अलभ्य वस्तुएँ माननीय भारतेन्दु जी ने अधिक व्यय तथा परिशोध से इतिहास सम्बन्धी सग्रह की थीं उनमें से मुझे कुछ नहीं मिली। बाबू हरिश्चन्द्र जी ने भारत के अन्यान्य महाराज, राजाओं तथा ब्रिटिश गवर्नमेन्ट के परस्पर सन्धिपत्र, बड़े बड़े प्रसिद्ध गवर्नर जेनरलों के शासन विषयक पत्र महाराज जयपुर तथा नयपाल प्रभृति के नाम जो भेजे गये थे, ५७ के राष्ट्र विप्लव की राजभक्ति प्रकट करने पर राजभक्तों को जो धन्यवाद पत्र दिये गये थे, सम्राट् अकबर आदि के पत्र-व्यवहार, प्रधान-प्रधान महाराज, महात्मा, वीर पुरुषों के इतिवृत्त और जन्मपत्र इत्यादि, एशियाटिक सोसाईटी द्वारा निर्धारित तथा अन्य इष्ट मित्र द्वारा प्राप्त ताम्रपत्र आदि पर लिखी हुई प्रशस्तियाँ, अनेक भूपतियों के समय की मुद्रा लिपि इत्यादि चमत्कार दिखलाने वाले विषयों को बड़े यत्न से सग्रह किया था। हाँ, उनमें से कोई भी मुझे न मिले जो आज उनके प्रेमियों के चित्त-विनोद के लिये प्रकाशित करके उनका यश फैलाता, और लोगों की गुण-ग्राहकता से उनका परिचय सुफल होने का अवसर मिलता।

यह नहीं कि वे सब रत्न गुप्त हो गये, अभी लोगों के पास हैं, परन्तु किस काम के, मैंने बहुत चाहा कि वह मिलें, पर मनोरथ और उद्योग सर्वथा निष्फल हुए।"

भारतेन्दु के स्वर्गवास पर पितामह ने "चन्द्रास्त" शीर्षक पुस्तिका लिख कर शोक प्रकाश किया था। मेरी पितामही कहती थीं कि दादा ने भारतेन्दु का जीवन चरित्र इस लिए नहीं लिखा कि वह अपनी लेखनी से उन गुप्त बातों पर प्रकाश नहीं डालना चाहते थे। पितामह ने जिस अपराध से बचने के कारण भारतेन्दु जीवन गाथा प्रस्तुत नहीं की, वही प्रसाद जी के सम्बन्ध में लिखकर मैंने किया। लेकिन मुझे विश्वास है कि भारतेन्दु के सम्बन्ध में जिस तरह लोग अन्धकार में हैं वैसे प्रसाद के सम्बन्ध में नहीं रहेंगे। भले ही अपयश और कलंक का भागी मैं बनूं।

भारतेन्दु की रसिकता का एक प्रमाण यहाँ मैं उपस्थित कर रहा हूँ। कल्हण रचित राजतरंगिणी की समालोचना प्रस्तुत करते हुए भारतेन्दु लिखते हैं—(५ त० ३२० श्लो०) इसी तरंग में गाने वालों का नाम डोम लिखा है (५ त० ३८ श्लोक) यह दीनार गज हुण्डी और डोम शब्द अब तक भाषा में प्रचलित हैं। बच्चे मीरहसन ने भी "डोमनपना" लिखा है। जैसा इस काल में रंडी और उनका कुटिया तथा भडुओं के समझने की ओर साधारण लोग जिसमें न समझ सकें ऐसी एक भाषा प्रचलित है वैसी ही इस काल में भी थी। गाने वाले का हेल गाँव

१—वर्तमान काल में रंडियों की भाषा का कुछ उदाहरण दिखाते हैं। [illegible] भाषा। यथा—[illegible], [illegible], [illegible], [illegible], [illegible] आदि। ग्राम [illegible] की [illegible]। यथा—[illegible], [illegible], [illegible], [illegible] हैं, [illegible]।

दिया गया इसकी उस काल की भाषा हुई "रंग स्सहल्लुदिराणा" (५ त० ४०२ श्लो०) ।

हम यह लिख चुके हैं कि भारतेन्दु और प्रसाद दोनों रईस कुल में उत्पन्न हुए थे । दोनों वैश्य जाति शिरोमणि हुए । अतएव उनके पास मनोरंजन और व्यसन का पर्याप्त साधन था, किन्तु अन्य रईसों की भांति विलास में लिप्त न होकर दोनों ने विद्या की उपासना में अपना जीवन उत्सर्ग किया ।

काशी के क्वीन्स कालेज में दोनों की शिक्षा हुई, किन्तु स्कूल की पढाई दोनों को रुचिकर न हुई और स्कूल छोड़कर घर पर ही उनका अध्ययन हुआ ।

भारतेन्दु अनेक प्रान्ती-भाषा के ज्ञाता थे । गुजराती में कविता लिख गये हैं । इसके अतिरिक्त संस्कृत, उर्दू, बंगला, अंग्रेजी पर उन्हें पूर्ण अधिकार था । प्रसाद ने केवल संस्कृत और अंग्रेजी ग्रन्थों का पठन-पाठन किया । भारतेन्दु संगीत विद्या के पारखी थे, उन्हें सभी रागों का ज्ञान था । प्रसाद का इस ओर विशेष ध्यान नहीं गया । भारतेन्दु जनता में खुलकर बोलते थे । कवि सम्मेलनों में तो वे सम्राट की भाँति सम्मानित होते थे । उनकी वाणी में प्रभाव था । प्रसाद सभा और सम्मेलन से घबड़ाते थे । उनकी वाणी में भी अधिनायक का स्वर नहीं था । कुछ संकोची प्रकृति के थे । जब कुछ लोग आग्रह करते तो पन्ने उलट कर कविता सुनाने लगते ।

भारतेन्दु की उदारता विख्यात थी । वह एक कविता सुनकर पाँच सौ रुपया तत्काल ही कवि को दे बैठते थे । गुणीजन कभी उनके द्वार से खाली हाथ नहीं लौटते थे । अपनी उदारता के कारण ही शेष जीवन उनका आर्थिक संकट में बीता । जब महाराज बनारस ने उन्हें समझाना

कि इतना धन मुक्तहस्त होकर क्यों उड़ा रहे हो तब कितना सुन्दर उत्तर देते हैं कि "महाराज यह लक्ष्मी मेरे कुल को खा गई अब इसको खाकर मैं मरूँगा।"

प्रसाद मुक्तहस्त नहीं थे। यह ठीक है कि कर्ज चुकाने में उन्हें अपना बहुत ही व्यवस्थित क्रम बनाना पडा था। उनके पूर्वजों ने दान की महिमा चरितार्थ की थी अतएव उनका द्वार सदैव अभाव ग्रसितों का तीर्थ केन्द्र बना। लेकिन पडा पुजारियों ने उनकी रक्षा की।

स्वभाव और प्रकृति में भी भारतेन्दु और प्रसाद में अन्तर था। भारतेन्दु सरल, अल्हड और भावुक प्रकृति के थे। प्रसाद दृढ, गम्भीर और नीति कुशल स्वभाव के थे। चाणक्य का चित्रण प्रसाद ने अत्यन्त सफलतापूर्वक किया है।

माता पिता का दोनों ही को दुलार नहीं प्राप्त हो सका क्योंकि उन्हें अपने मार्ग पर स्वतन्त्र करके वे चले गये थे। बाल्यकाल से ही दोनों की स्वच्छन्द गति का स्वभाव निर्माण करने मे यह भी एक कारण बना। उन्हें आदेश और आज्ञापालन करने का अवसर ही नहीं मिला। दोनों ने अपने जीवन का प्रशस्त मार्ग स्वयं निर्धारित किया। वे अपने लक्ष्य और उद्देश्य पर इतने अटल थे कि कभी भी विचलित नहीं हुए और निरन्तर अपने कार्य में तन्मय रहे। भारतेन्दु का देहान्त ३४ वर्ष की अवस्था में हुआ और प्रसाद के पचास पूरा करने में दो वर्ष अभागे रहे।

दोनों की तपस्या में कोई सन्देह नहीं कर सकता, लेकिन मेरी दृष्टि में भारतेन्दु की साधना आर्थिक [illegible] और कभी भी नहीं रही। [illegible] और साहित्य के इतिहास में अपने महत्व और स्थान को भारतेन्दु और प्रसाद दोनों ही भलीभाँति जानते थे। मैं यह जानता हूँ

कि साहित्य से अपने जीवनकाल में प्रसाद ने कुछ अर्जित नहीं किया और पुरस्कार में जो कुछ मिला उसे भी उन्होंने अपने लिए व्यय नहीं किया। लेकिन भविष्य का व्यौरा वह समझते थे। विश्वविद्यालयों के पाठ्य-क्रम में उनकी रचनाओं को स्थान मिल रहा था और उन्हें विश्वास था कि आगे चलकर 'रायल्टी' से पर्याप्त आर्थिक लाभ होगा। इसीलिए मृत्यु के पूर्व उन्होंने अपनी कृतियों के प्रकाशन की निश्चित व्यवस्था कर डाली थी। राय कृष्णदास और विनोद से अधिक विश्वास उन्हें लीडर प्रेस लि० के प्रति था। किन्तु भारतेन्दु को अपने मित्र रामदीन सिंह के ऊपर अटल भरोसा था। वह सत्य भी प्रमाणित हुआ क्योंकि भारतेन्दु के बाद उनकी ग्रंथावली का प्रकाशन जिस निस्वार्थ भाव से बाबू रामदीन सिंह ने किया वैसा प्रसाद के बाद लीडर प्रेस लिमिटेड नहीं कर सकी।

पैसों के नाम पर भारतेन्दु ने वणिक होकर भी ब्राह्मण का हृदय पाया था। प्रसाद में योजना और व्यवस्था में वास्तविक वणिक बुद्धि थी। इस सबंध में वे बहुत निपुण और कुशल थे। भविष्य का ध्यान वर्तमान से अधिक आशाप्रद होता है। इस प्रश्न के साथ प्रसाद के संमुख पुत्र की ममता साकार रूप धारण करती है और भारतेन्दु अपनी पुत्री के प्रति चिन्ताग्रसित नहीं होते और उस लक्ष्मी का तर्पण कर रहे थे जिसने उनके पूर्वजों से गठबन्धन किया था।

भारतेन्दु का दर्शन उनके जीवन का दर्पण था। आर्य संस्कृति, प्राचीन परंपरा और मानव जीवन के उज्ज्वल आदर्शों के वे उपासक थे। संसार के गूढ रहस्यों का सूत्र उन्हें अल्पावस्था में ही कंठस्थ हो गया था। प्रसाद में कुछ अन्तर था। उनका ज्ञान परिपूर्ण था, उनका अध्ययन विशाल था, किन्तु उनकी व्यक्तिगत आकांक्षाओं की संतुष्टि नहीं हो पाई थी। कुल की मर्यादा के विपरीत समाज की अंगुलियों से वह प्राय-

भयभीत रहते थे। अध्ययन के प्रभाव ने उन्हें बौद्ध दर्शन की ओर खींचा, कबीर के रहस्यवाद का ताना-बाना भी वह सुलझा चुके थे, अन्त में आनन्दवाद के ही वे पथगामी हुए। भारतेन्दु की भांति वह लक्ष्मी का विसर्जन नहीं करना चाहते थे। वह कुल की ऊँची अट्टालिकाओं पर दीप की लौ देख रहे थे।

सम्कारिक मानव कीर्ति का भूखा होता है। जीवनकाल में भले ही सुयश की झंकार सर्वत्र न गूंज उठी हो, फिर भी उसके बाद, सैकड़ों और हजारों वर्षों के बाद भी वाल्मीक, होमर और प्लूटार्क की भाँति उसकी गाथा अमर रहती है यह धारणा लेकर वह मानव तन धारण करता है। भारतेन्दु और प्रसाद इस सत्य पर आरूढ थे।

लिखित भाषा के प्रचलन के पूर्व निर्माताओं के शिष्य वर्ग और सन्तान, साहित्य की अमूल्य निधि की एक पीढी की थाती दूसरी को सौंपते चले आये। यही परंपरा हमारे भारतीय साहित्य को सुरक्षित रखने में सहायक हुई। अक्षर और लिपि चालू होने पर साहित्य का स्थायी रूप सार्वजनिक लाभ में उपयोगी प्रमाणित हुआ। इसके साथ ही जनता जनार्दन की वाणी प्रखर हुई। साहित्य का स्वर संगीत लहरियों की ताल पर समस्त विश्व ब्रह्माण्ड में गूंज उठा। शताब्दियों के निरन्तर विकास ने समाचार पत्र और पत्रिकाओं का आविष्कार किया। भारतेन्दु और प्रसाद इस आविष्कार के चमत्कार से पूर्ण परिचित थे। अतएव दोनों का आरम्भिक प्रसार [illegible] में [illegible] था। भारतेन्दु को भी पत्रिकाओं के प्रकाशन की लगन थी और प्रसाद ने [illegible] भी यह विषय [illegible] बना। यह एक [illegible] ऐसा था जिसके द्वारा प्रतिभाओं [illegible] की ध्वनि [illegible] उठती।

भारतेन्दु ने [illegible] कविवचन [illegible] हुआ और [illegible]

आदि पत्र पत्रिकाओं को जन्म दिया और प्रसाद की प्रेरणा के परिणाम में हमें इन्दु, गल्पमाला, जागरण, हंस आदि का दर्शन हुआ। इस उद्योग में दोनों को काफी आर्थिक हानि उठानी पड़ी, यह भी स्पष्ट रूप से प्रकट है। फिर भी उनका प्रयत्न कितनी मात्रा में सफल रहा इतिहास इसका साक्षी है।

प्रसाद की भावना और विचार बाल्यकाल से ही अति पुष्ट दिखाई पडते हैं। भारतेन्दु की भाँति भगवान के प्रति असीम भक्ति आरम्भ से ही उनके हृदय में जाग्रत होती है। अब हम उन्हीं के शब्दों में उनके विचार और सिद्धान्त का पता लगाना चाहते हैं।

चित्राधार का दूसरा संस्करण हमारे संमुख है। उस समय इसके प्रकाशन की व्यवस्था मेरे द्वारा ही हुई थी। प्रसाद जी से आग्रह कर एक परिश्रमी निर्धन प्रकाशक को एक सस्करण के लिए दिया गया था।

चित्राधार का दूसरा संस्करण स० १९८५ में प्रकाशित हुआ था। प्रकाशक के "दो शब्द" से ज्ञात होता है कि इस संग्रह में उनकी बीस वर्ष के अवस्था तक की प्राप्त सभी कृतियाँ संग्रहीत कर दी गई हैं। इस सग्रह के प्रथम सस्करण में, जो कि स० १९७५ में प्रकाशित हुआ था, जो और रचनायें उस अवस्था के बाद की थीं, और जहाँ से उनकी खड़ी बोली की रचनाओं का प्रारम्भ होता था, निकाल दी गई हैं।

चित्राधार में पहली रचना "उर्वशी" शीर्षक चम्पू है। इसका पद्य ब्रजभाषा में है और गद्य में क्लिष्ट शब्दों का प्रयोग है, भाषा अलंकारिक बनाने का प्रयत्न किया गया है।

"युवती ने युवक के शौर्य व्यजक मधुर मूर्ति को निर्निमेष देखकर एक स्मित कटाक्ष किया।"

युवावस्था में एक स्मित कटाक्ष कितना घातक होता है इसे सभी जानते हैं। यहीं से इस पौराणिक चम्पू की कथा आरम्भ होती है। वर्णन पढ़ते ही रवि वर्मा के बनाये चित्र आँखों के सम्मुख आ जाते हैं जो प्रसाद युग में अति प्रचलित थे। मुझे स्मरण है कि मेरे कमरे में भी उर्वशी, मेनका आदि के अनेक चित्र लगे थे। उन चित्रों को देखकर उन पौराणिक आख्यानों की ओर ध्यान जाता था।

जब ऋतुओं के संदेश पर प्रकृति अपनी मनोरम लीला करती, महाकवि कालिदास का मेघदूत पढ़कर अल्हड़ मन जब बावला सा होकर भटकने लगता तब अनायास स्वर्ग में नृत्य करनेवाली वे अप्सरायें, उर्वशी, मेनका, रम्भा आदि के चित्रित अथवा कल्पित कितने ही स्वरूप बन्द नयनों में समा जाते थे।

प्रसाद की जवानी में वे ही चित्र साकार बनने लगे।

गर्वित हृदय को एकाधिपत्य से वञ्चित होने का अनुमान होने लगा। फिर भी वे सुख की आशा में हृदय को सुखाने लगे।

पुरुरवा ने कहा--गन्धर्व कुमारी! हमने तुम्हें बड़ी प्यारी आधी गाई गीत की तरह स्मरण किया है।

उर्वशी ने तीखेपन से कहा—उसे भूल जाओ।

पुरुरवा हताश होता है।

उर्वशी तन गई और बोली—मैं तो पहले ही कह चुकी हूँ कि मैं स्वतंत्र हूँ। इसी स्वतन्त्रता को छीनने के लिए आगे चल कर अनेक कठोर नियम बनेंगे, बड़े बडे प्रलोभन और बडी बड़ी धमकियाँ होंगी, फिर भी यह हमारा दल बना रहेगा और स्वतत्र रहेगा। मैं भी स्वतंत्र रहूँगी। मेरे पीछे न पड़ो। हम लोगों का हृदय भेड़ियों से भी भयानक है। अब जाओ, राज्य में बहुत से सुख तुम्हारी आशा में हैं।

उर्वशी जैसे स्वर्गीय सौंदर्य ने जब भेड़ियों से भयानक हृदय पाया था तब भूलोक की गणिकाओं का प्रश्न ही क्या?

उसी चक्रव्यूह में पड़ कर मानव कितना पीड़ित और हताश होता है अनुभव इसे प्रमाणित करता है।

इन सब वर्णन से ज्ञात होता है कि लेखक का अपना व्यक्तिगत अनुभव ही उस पौराणिक उपाख्यान की ओर आकर्षित होता है और उसको उपस्थित करने में उनकी भावनाएँ भी व्यक्त होती हैं।

दूसरा चम्पू बभ्रुवाहन है। अर्जुन और चित्रांगद की कथा पर इसकी रचना हुई है। तरुणावस्था में भी प्रसाद की कल्पना कितनी गहरी होती थी देखिए—यद्यपि वह अपनी आंतरिक अभिलाषा को तलस्थायी मुक्ता-फलों की भाँति गुप्त रखना चाहती है तथापि, वह अश्रुरूप से निकल

पडती है। रमणी के नेत्रों से निकले हुए अश्रु विन्दुओं को कमल-क्रीड़ा करनेवाला मलय पवन मकरन्द विन्दु जान कर हर ले जाता है।

प्रेम का कटु अनुभव अपने पथ पर अग्रसर हो रहा था—

> मधुकर प्रीति रीति नई।
> जिन दिन देखत हौ गुलाब की कलियाँ कलित नई।
> काँटन मे उलझत घूमत हो सुधि बुधि बिसरि गई॥

छन्द और पिंगल का अध्ययन अपनी प्रथमावस्था में ही प्रकट होता है। सरल और प्रचलित मार्ग का ही अनुसरण है। प्रचलित छन्दों के साथ आल्हा का छन्द भी दृष्टिपात होता है—

> दुहुँ की सेना पूरन उमग। तब करन लगी मिलि युद्ध रग।

वीरता का परिणाम सुखद होता है। अर्जुन अपने पुत्र बभ्रुवाहन को आशीर्वाद देता है—

> निज कुल कहँ उज्वल करे। तीन लोक यश छाद॥

तीसरी रचना पद्य में अयोध्या का उद्धार है। वाल्मीकि रामायण में ऋषभ नामक राजा द्वारा अयोध्या का फिर से बसाये जाने का पता मिलता है। परन्तु महाकवि कालिदास ने अयोध्या का उद्धार कुश द्वारा होना लिखा है। अस्तु इसमें कालिदास का ही अनुसरण किया गया है।

महाकवि कालिदास की रचनाओं का प्रभाव महाकवि रवीन्द्रनाथ की प्रतिभा पर [illegible] पड़ता है। पौराणिक आख्यान के प्रति आकर्षण स्वाभाविक है। कवि [illegible] अपनी कल्पना का [illegible] देता है। अपने पूर्व के निर्माताओं का [illegible] अनुसरण [illegible] प्रमाणित नहीं किया जा सकता।

तुलनात्मक-तत्त्व

सन्क्षेप में भारतेन्दु का प्रभाव प्रसाद पर कितना पड़ा है इसका अन्वेषण करने के लिए नीचे लिखे प्रश्नों पर ध्यान देना होगा।

१—दोनों धनी परिवार में उत्पन्न हुए।

२—भगवान के प्रति बचपन से ही दोनों की भक्ति रही। उनकी आरम्भिक कविताओं में यह स्पष्ट है।

३—दोनों का समर्पण प्रभो को लेकर एक ही ढंग से हुआ।

४—माता-पिता के स्नेह से दोनों वंचित थे।

५—पत्र-पत्रिकाओं के प्रकाशन की लगन दोनों में एक ही समान थी।

६—राजभक्ति दोनों की आरम्भ में—भारतेन्दु—एलबर्ट और प्रसाद ने एडवर्ड की मृत्यु पर शोक प्रकाश (कविता) पुस्तकाकार छपवा कर बटवाई। बाद में यह भावना कुछ बदल गई देश की राजनीति के विकास के साथ।

७—ब्राह्मणों के प्रति दोनों को श्रद्धा थी।

८—संस्कृत ग्रंथों का अध्ययन दोनों का विशेष रहा।

९—दोनों का आरम्भ पहले ब्रजभाषा में कविता लिखकर हुआ।

१०—युवावस्था में दोनों अपना नगर छोड़कर भ्रमण करने निकले।

११—दोनों बंगला के लेखकों से प्रभावित थे। भारतेन्दु बंगाल में हेमचन्द्र से मिलकर और प्रसाद रवीन्द्र से काशी में भेंट कर।

१२—ब्रजचन्द्र से प्रसाद की मैत्री और बाद में मोतीचन्द के प्रति स्नेह।

किया गया था वास्तव में वह अनुचित था। इसी पर द्विवेदी जी ने लिखा था—"कहीं सब लोगों को मालूम हो जाय कि चाणक्य को भी चालाकी सिखाने वाले सभा के जो चाणक्ष कार्य्यकर्त्ता दार्शनिक परिभाषा की संशोधित कापी हमारे पास भेजना अपनी, सभा की या संशोधकों की सर्वज्ञता में बट्टा लगाना समझते थे, वही अब हमसे संशोधन और सूचना माँगने लगे! शिव शिव! भला ऐसा कहीं हो सकता था! देखिए, यही लोग गला फाड़ फाड़ कर तारस्वर से चिल्लाते हैं कि हम लोग सभा की कोई कारवाई पोशीदा नहीं रखना चाहते! याद रखिए, यही इतने सरल हृदयधारी सज्जन आगे चलकर हम में कुटिलता ढूढने के लिए आकाश-पाताल एक कर डालेंगे। नाराज हो गये तो संशोधित कापी देखने तक नहीं देंगे, खुश हो गये तो जितने संशोधन और सूचनायें चाहिए कर दीजिए। मना कौन करता है! इस सरल नीति को, इस नेक्नीयती को, इस पालिसी को देखिए और सभा की कमिटी के कौचाली सभ्यों को आशीर्वाद दीजिए।"

सभा के आग्रह पर द्विवेदी जी ने 'दार्शनिक परिभाषा' तैयार किया था। छपने के पहले वह उसका संशोधित पाठ देखना चाहते थे। उस समय सभा ने उसे न दिखाने का रूखा जवाब दिया और फिर बाद में उन्हें उसमें संशोधन और सूचनायें करने के लिये लिखा गया। इस तरह की बातें सचमुच रोष उत्पन्न करने के लिये पर्याप्त होती हैं। द्विवेदी जी ने सभा के लिये पूज्य मालवीयजी के कहने पर बहुत कार्य किया था, किन्तु एक बार सभा के खोज की रिपोर्ट की आलोचना उन्होंने की तब से वह सभा के पक्के दुश्मन समझे जाने लगे। और बात इतनी बढ़ी कि द्विवेदी जी को अप्रतिष्ठा पूर्वक सभा से निकाल देने का प्रस्ताव पास करा दिया गया। उनसे कैफियत पूछी गई जिसकी सफाई में ७५

फुल्सकेप कागज रंग कर द्विवेदी जी ने अपना वक्तव्य समाप्त किया था।

अब खुलकर बाबू श्यामसुन्दर दास के प्रति ही उनका लक्ष्य था। उन्होंने ललकारा—"जो लोग अपने ही मुँह अपनी तारीफ 'पायनियर' में प्रकाशित करें और इंडियन प्रेस की रामायण को कहें कि सभा ने ही उसे अपने खर्च से छपाया है, जो लोग दूने को तिगुना लिख दें, आराम को बीमार कह दें, जिन्दा को मुर्दा बतला दें और दूसरों से महीनों सभा का काम कराकर उनके परिश्रम और खर्च की कुछ भी परवा न करके उलटे चिट्ठियों के महसूल के दो चार आने तक वसूल कर लें, उनके लिए यदि यह कहा जाय कि ऐसे निन्द्य कामों का प्रायश्चित्त किसी दिन जरूर मिल जायगा तो क्या गजब हो जाय!"

द्विवेदी जी की मानसिक उद्विग्नता का कारण था—'छिपे छिपे छुरी चलाइए। हम प्रतिवादी हैं, आप वादी और जज दोनों जबरदस्त ठहरे न।' उस वक्तव्य के कारण उन्हें सभा से निकालना असम्भव हो गया, किन्तु उन्होंने खुद ही इस्तीफा दे दिया था। और यह द्वन्द्व उनके जीवन भर चलता रहा। आगे चलकर अवस्था और समय ने दोनों को गम्भीर और शान्त कर दिया था। जीवन के अन्तिम दिनों में भी यह मनोमालिन्य विस्मृत नहीं हो सका। जीवन भर निरन्तर हिन्दी की सेवा करने के बाद जब उन दोनों के परिश्रम और [illegible] सम्मानित होने का अवसर आया तब द्विवेदी जी ने अपने [illegible] उदाहरण दिया वह स्वर्ण अक्षरों में हिन्दी के इतिहास में अंकित रहेगा।

[illegible] इस तरह हुआ कि बाबू श्यामसुन्दर दास, हिन्दू [illegible] हिन्दी विभाग के अध्यक्ष थे। उन्होंने मालवीय जी से [illegible] प्रसाद द्विवेदी को विश्वविद्यालय के

'डाक्टरेट' की आनरेरी उपाधि देनी चाहिये। इस बात का पता द्विवेदी जी को लग गया और मौका आने पर द्विवेदी जी ने 'लीडर' में एक पत्र द्वारा विश्वविद्यालय से बाबू श्यामसुन्दर दास को डाक्टरेट की उपाधि देने का सुझाव रखा।

इस पर बाबू साहब ने दिखावटी अप्रसन्नता दिखाते हुए द्विवेदी जी को सुनाया कि—"काशी विश्वविद्यालय का यह नियम है कि आनरेरी उपाधि के लिये केवल वाइस चान्सलर ही प्रस्ताव कर सकते हैं। दूसरे किसी को ऐसा प्रस्ताव करने का अधिकार नहीं है।"

इस सम्बन्ध में द्विवेदी जी ने एक पत्र में अपने विचारों को इस तरह प्रकट किया था "·· रही अकारण वैमनस्य उत्पन्न करने की बात सो सरकार, हृदय या मन में जहाँ वैमनस्य रहता है वहाँ उतनी जगह को मैंने वैमनस्य-प्रूफ करा डाला है। अब वहाँ वैमनस्य की पहुँच नहीं हो सकती। आप भी वैसा ही कीजिए। फिर, वैमनस्य का कहीं पता ही न रहेगा।

···एक बात आपने बहुत ठीक कही। वह यह कि मैं डाक्टरेट की आनरेरी उपाधि मिलने के नियम नहीं जानता। भगवन्, मुझे उन नियमों की जानकारी की मुतलक़ जरूरत नहीं। जिसे जिस चीज की प्राप्ति की जरूरत ही नहीं वह उसकी प्राप्ति के नियम जानने की यदि चेष्टा न करे तो आश्चर्य की बात नहीं। जानें वे लोग जो उसकी प्राप्ति की ताक में हों·· ·जरा आप अपने कोप को शांत कीजिए। किसी को डाक्टर की पदवी दे डालने का अधिकार मुझ ना-चीज को नहीं, यह मैं बखूबी जानता हूँ। और हो भी तो आप उसे मेरे हाथ से भला क्यों लेने लगे। मेरा मतलब सिर्फ यह था कि अगर किसी ने मुझे डाक्टर की पदवी देने की इच्छा भी प्रकट की तो मैं उसको स्वीकार न करूँगा और कह दूँगा कि इसकी प्राप्ति के अधिकारी बाबू श्यामसुन्दर दास मुझ से कई गुना

अधिक श्रेष्ठ हैं। देना ही है, तो उन्हें दी जाय। मुझे आप इस इतने अधिकार से तो वंचित न कीजिये। आप मेरे विषय में सब कुछ कहें, पर मैं आपके विषय में कुछ भी न कह सकूँ—यह सरासर जुल्म है। खैर, यहाँ भी मुझसे गलती हो गई हो, तो आप पुनर्बार मुझे क्षमा करें। अन्तिम प्रार्थना यह है कि आप अपने मानदंड से मेरे हृदय की नाप जोख न करें।"

बाबू श्यामसुन्दर दास की मालवीय जी से सिफारिश का कोई वास्तविक परिणाम न हुआ, लेकिन द्विवेदी जी का प्रस्ताव पूर्ण ही होकर रहा और विदाई की घड़ी टनटनाने के पहले ही डाक्टरेट की पदवी प्राप्त कर वह सन्तोष की साँस ले सके। और मरतिहुँ बार कटक संहारा के नाम पर और उनको न तौलने की प्रार्थना को ठुकराते हुए बाबू श्यामसुन्दर दास ने स्वर्गीय द्विवेदी जी को अपनी 'मेरी आत्म कहानी' में मिले बटखरे से तौल ही डाला। जरा ध्यान देकर पढ़िये।

"जब यह पुस्तक प्राय समस्त छप गई तब द्विवेदी जी ने इस अंश को देखा। उन्होंने बाबू चिन्तामणि घोष से यह आग्रह किया कि यह अंश निकाल दिया जाय। मुझसे पूछा गया। मैंने कहा मुझे कुछ आपत्ति

रखा था, उसमें इन विशेषताओं की आवश्यकता हो और यह सोचते हों कि अपनी धाक जमाने के लिए इनका प्रयोग अनिवार्य है।"

बाबू श्यामसुन्दर दास और द्विवेदी जी दोनों ही चले गये, हिन्दी के इतिहास में दोनों की सेवायें अंकित हैं। धाक का कृत्य अन्त में कट छँट जायगा। द्विवेदी काल हिन्दी का निर्माण काल बनकर उन्हें अमर कर गया। लेकिन बाबू साहब के धाक वाले प्रश्न पर इतिहास निर्माता को बहुत सा व्यर्थ परिश्रम करना पड़ेगा।

मैं जानता हूँ कि बाबू साहब में और पं० रामचन्द्र शुक्ल में गहरी पटती थी। शुक्ल जी की धारणा प्रसाद जी के सम्बन्ध में जैसी होनी चाहिये थी वैसी नहीं थी। बाबू श्यामसुन्दर दास भी उन्हीं के स्वर में स्वर मिलाते थे। प्रसाद जी से वे दोनों कुछ खिंचे से रहते थे। यही कारण था कि मैं भी उन लोगों के निकट नहीं पहुँच सका।

मैं प्रसाद के संस्मरण में लिख चुका हूँ कि जब हम दोनों एक्के से भदैनी की ओर जाते उस समय तीन दिग्गज यानी हरिऔध, शुक्ल और दीन एक ही एक्के पर लदे चले आते थे। प्रसाद जी मेरे महारथियों वाले व्यंग पर खिलखिला उठते थे। दोनों एक्कों का आमना-सामना होने पर भी 'अभिवादन' अथवा परिचित मुस्कान का कोई स्वरूप धारण नहीं होता था। नजरें घूम-फिर जाती थीं। लाला जी एक्का हाँकने वाले की बगल में बैठते थे। इससे उन तीनों में उनकी दीनता परिचायक थी। लाला जी भी प्रसाद की रचनाओं का विशेष महत्व न समझते थे। इसलिए हम लोगों की दृष्टि में उनका व्यक्तित्व रूखा सा ही प्रतीत होता था।

पं० रामचन्द्र शुक्ल देखने में गम्भीर मालूम पड़ते थे; लेकिन बहुत हास्यप्रिय प्रकृति के थे। ऐसा पं० केशव प्रसाद मिश्र की बातों से मालूम पड़ता था। वास्तव में बात यह थी कि केशव जी को छोड़ हिन्दू विश्व-

विद्यालय का हिन्दी विभाग ही प्रसाद के सम्बन्ध में अपनी एक अलग धारणा बनाये था। आगे चल कर प्रसाद की प्रखर प्रतिभा की निरन्तर प्रगति ने उन लोगों के मत में कुछ परिवर्त्तन कर दिया था। इसका सब से बड़ा कारण यह भी था कि विश्वविद्यालयों के पाठ्यक्रम में उनकी कृतियों का प्रसार हो चुका था।

अब यहाँ बाबू श्यामसुन्दर दास की आन्तरिक भावना प० रामचन्द्र शुक्ल के सम्बन्ध में क्या थी इसका परिचय उनकी मृत्यु के बाद बाबू साहब की 'मेरी आत्मकहानी' में मिलता है। देखिये—

'कदाचित यहाँ पर यह कह देना अत्युक्ति न होगी कि कोश ने शुक्ल जी को बनाया और कोश को शुक्ल जी ने, जिस प्रकार सभा को मैंने बनाया और सभा ने मुझे।'

श्यामसुन्दर दास जी अपने समय में साझे में काम करने के लिये विख्यात थे। शुक्लजी से उन्हें कटु अनुभव हुआ। फिर देखिये।

"साहित्य का इतिहास प० रामचन्द्र शुक्ल का लिखा है। शुक्ल जी का स्वभाव था कि वे किसी काम को समय पर नहीं कर सकते थे। उसे टाल रखते थे और प्रायः बहुत धीरे धीरे काम करते थे। इसका मुझे पूरा पूरा अनुभव था। पहले हम लोगों का विचार था कि शुक्ल जी और मैं दोनों मिल कर साहित्यिक इतिहास तैयार करें। इसी ध्येय को सामने रख कर वीरगाथा का अध्याय हम लोगों ने लिखा और वह नागरी प्रचारिणी पत्रिका में प्रकाशित हुआ। पीछे जब साहित्य के इतिहास को हिन्दी शब्द सागर की प्रस्तावना रूप में देने की जल्दी मची तब यह विचार परिवर्तन हुआ। जो प्रूफ आता था वह सन्ध्या को [illegible] दिया जाता था। प्रातःकाल घर से उनके निकलता [illegible] और प्रूफ तब नहीं कापी ले आता। कभी-कभी

पंडित केशव प्रसाद मिश्र भी मेरे साथ जाते। यह क्रम महीनों चला और तब जाकर यह अंश तैयार होकर छप गया। जब प्रस्तावना का अन्तिम पृष्ठ छपने को था तब शुक्ल जीने बिना कुछ कहे-सुने प्रेस में जाकर प्रस्तावना के अन्त में अपना नाम दे दिया। कदाचित उनको इस समय यह भावना हुई होगी कि मेरी इस अपूर्व कृति में किसी दूसरे का साझा न हो। अपनी कृति पर अभिमान होना स्वाभाविक है।

निज कवित्त केहि लाग न नीका
सरस होई अथवा अति फीका।

यह कृति तो उत्कृष्ट थी। अतएव इस पर अभिमान होना कोई आश्चर्य की बात न थी पर इस प्रकार चुपचाप अपना नाम छपवा देने में दो बातें स्पष्ट हुईं। एक तो यह कि वे किसी के सहयोग में अब काम करने को उद्यत न थे और दूसरे अनजाने में उन्होंने मेरे भाषा के इतिहास को भी अपना लिया। ऐसी एक घटना तुलसी ग्रन्थावली के सम्बन्ध में भी हुई थी।"

घटना यह थी कि अभ्युदय के संवाददाता के पूछने पर कि क्या आपने भाषा विज्ञान लिखा है? शुक्ल जी मुस्करा दिये। इस सम्बन्ध में खण्डन छपवाने का वादा शुक्ल जी ने श्याम सुन्दर दास जी से किया था; किन्तु उन्होंने उसे पूरा नहीं किया।

इसी बात पर अप्रसन्न होकर बाबू साहब ने लिखा—"...हाँ, उनका खण्डन तो अब तक देखने में नहीं आया। जिसने लन्दन-मिशन-स्कूल से खींचकर साहित्य के महारथियों में स्थान पाने योग्य उन्हें बनाया, जिसने सदा उनकी सहायता की, सब अवसरों पर उन्हें उत्साहित कर-करके उनसे ग्रन्थ लिखवाये, उन्हें छपवाया और पुरस्कार दिलाया तथा सदा

उन्हें आगे बढ़ाने का प्रयत्न किया उसके प्रति यह 'उदारता' शुक्ल जी या उनके जैसे लोगों को ही शोभा दे सकती है।"

बाबू श्यामसुन्दर दास से मेरे पितामह की घनिष्ठता थी। हिन्दी कोविद रत्नमाला में उन्होंने उनका जीवन चरित लिखा था। मेरे पिता उनके छात्र थे। प० माधवराव सप्रे के एक पत्र से ज्ञात होता है कि बाबू श्यामसुन्दर दास की बैठक में जो उनसे उनकी भेंट हुई थी उसे वह भूले नहीं हैं। इससे यह पता चलता है कि मेरे पिता भी प्राय वहाँ जाते थे। किन्तु मै उनके यहाँ कभी गया नहीं, क्योंकि प्रसाद से बड़ा मैं किसी को समझता ही नहीं था और उनके प्रति जिसकी भावना विपरीत हो उससे मै दूर रहता था, किन्तु एक बार मार्ग में अचानक उन्हें मेरा परिचय मिल गया फिर बड़े प्रेम से गले लगा कर सब पूर्व कथा उन्होंने सुनाई। तभी से मेरे प्रति सहानुभूति का मार्ग प्रशस्त हुआ। इसका उदाहरण मुझे उनके एक पत्र से मिला—

काशी

मैं सभा सोसाइटी से दूर रहने वाला वैसे उनकी आज्ञा का पालन करता। अतएव यही उनके अन्तिम स्नेह का उद्गार हुआ।

भाई उग्र ने वर्त्तमान हिन्दी के चार प्रचण्ड स्तमों में भारतेन्दु, द्विवेदी, श्यामसुन्दर दास और पुरषोत्तम दास टण्डन को माना है। उनका मत है कि उक्त चारो स्तंभों में दो लोहे के हैं और दो पत्थर के। लौह-स्तभ वे जो अधिक साहित्यिक चमत्कार और ओज से सपन्न हैं। जैसे भारतेन्दु जी और द्विवेदी जी और पत्थर हैं साहित्यिक नजर से बाबू श्यामसुन्दर दास तथा बाबू पुरुषोत्तमदास टण्डन। मैं भारतेन्दु और द्विवेदी के साथ प्रसाद का नाम जोड़कर पाँच मानता हूँ।

साहित्य के निर्माण में सभी अग और सभी ओर दृष्टि रखने वाले प्रथम भारतेन्दु हैं और दूसरे द्विवेदी जी। इन्हीं दोनों के प्रयत्नों से आज हिन्दी का क्षेत्र विशाल बना है। भारतेन्दु के सम्बन्ध में तो बहुत कुछ खोज हो चुकी है, केवल उनका व्यक्तिगत जीवन वैसा रहा इस सम्बन्ध में अभी सामग्री इकट्ठी करना आवश्यक है। द्विवेदी जी के सम्बन्ध में अभी विशेष कार्य नहीं हुआ है जो अनुसंधान करने वालों की प्रतीक्षा में है।

द्विवेदी जी और श्यामसुन्दर दास जी के झगडे का विवरण देकर दोनों महान् साहित्य सेवियों की मनोवृत्ति की ओर मैंने संकेत किया है। भाषा निर्माण के सम्बन्ध में द्विवेदी जी की लगन कितनी प्रबल थी इसका कुछ उदाहरण देना आवश्यक है।

कुछ समालोचकों का कथन है कि द्विवेदी जी को अंग्रेजी पर अधिकार नहीं था, वह मराठी और बंगला से ही सहायता लेते थे। यह बात कहाँ तक ठीक है इस पर मैंने थोड़ी छान-बीन की है। मैंने 'सरस्वती' की फाइल के पन्ने इसी उद्देश्य से उलटे हैं और देखा है कि पाश्चात्य विद्वानों

मे उनका सम्बन्ध रहा है। उनके समय की सरस्वती में उन विदेशी विद्वानों का परिचय और संस्कृत साहित्य में उनके ठोस कार्यों पर काफी प्रकाश डाला गया है और उनका उदाहरण उपस्थित करते हुए यह बराबर ध्वनि निकलती रही कि एक वे हैं जो हमारी संस्कृति और साहित्य पर इतना मनन करते हैं और यहाँ भारत में हम उदासीन बैठे हैं।

डाक्टर मेकडानल जैसे विद्वानों को फटकारना द्विवेदी जी ही का काम था। मेकडानल का जन्म मुजफ्फरपुर (तिरहुत) में हुआ था। उन्होंने अपना नाम मुग्धानलाचार्य रखा था। बेनफी, रोट और मैक्समूलर से उन्होंने वेद की शिक्षा ग्रहण की थी। अपने समय के वह संस्कृत के प्रकाण्ड विद्वान समझे जाते थे। वे भारत आकर संस्कृत के बड़े बड़े पंडितों से मिले थे। उन्होंने रायल एशियाटिक सोसायटी के जुलाई १९०६ के जर्नल में एक लेख प्रकाशित किया था, जिसमें उन्होंने लिखा था कि इस देश के पंडित इस योग्य नहीं, भारत वर्ष के नालायक पंडितों से संस्कृत पढ़ने से विशेष लाभ की सम्भावना नहीं। क्यों कि ये लोग गुण दोष परीक्षा पूर्वक संस्कृत पढ़ाना नहीं जानते। ये लोग सूक्ष्मदर्शी नहीं। इसलिए लंदन में भी सिविल सर्विस वालों को वहीं संस्कृत की शिक्षा मिलनी चाहिए। उस समय डा० श्रीधर रामकृष्ण भाण्डारकर बम्बई में एल्फिन्स्टन कालेज में अध्यापक थे। उन्होंने भी उनके लेख का

मिलता है। उन्होंने मुग्धानल के दलीलों का खण्डन करते हुए लिखा कि बूलर, कीलहार्न, पीटर्सन आदि ने जो बड़ी बड़ी किताबें लिख डालीं सो इस देश के भोले भाले स्थूलदर्शी पंडितों ही की कृपा की बदौलत। डाक्टर मेकडानल ने द्विवेदी जी की विद्वत्ता के सामने चुपचाप अपने सिर को नीचा कर लिया होगा, क्यों कि उनकी त्रुटियों पर कलम चलाने वाले डाक्टर भाडारकर और द्विवेदी जी ऐसे व्यक्ति भारतवर्ष में जीवित थे। मेकडानल बड़े अभिमानी स्वभाव के थे, इसीलिए लेख के अन्त में द्विवेदी जी ने लिखा था कि 'मेकडानल के गुरु मैक्समूलर ने १८ वर्ष पहले अपनी एक फोटो उनके पास भेजी थी और उनके शिष्य अकड़े स्वभाव के मालुम पड़ते हैं।' यह मेक्समूलर साहब जर्मन थे। उन्होंने अपना नाम मोक्षमूलर भट्ट रखा था। वैदिक साहित्य पर समस्त योरप की आँखें उन्होंने खोली थीं। उन्होंने अपनी एक पुस्तक भी भेंट स्वरूप द्विवेदी जी के पास भेजी थी। आज उसी मोक्षमूलर भट्ट के कारण भारतवर्ष समस्त विश्व में अपने प्राचीन साहित्य के नाम पर गर्व करता है।

द्विवेदी जी के सम्बन्ध में भी कुछ विद्वानों की धारणा है कि उनमें अक्षमन्यता या अकड़ की मात्रा अधिक थी। लेकिन जहाँ तक मैंने अध्ययन किया है उससे मुझे प्रतीत हुआ है कि आत्माभिमान होना तो स्वाभाविक ही था, किन्तु वे सरल हृदय के थे और खुलकर वार करते थे भीतर ही भीतर 'मीठी छुरी' नहीं चलाते थे। और इसी स्वभाव के कारण वह किसी के सामने झुके नहीं। वह चाहते तो बड़े से बड़ा सम्मान का पद प्राप्त कर सकते थे, लेकिन ब्राह्मण का सन्तोषी हृदय जीवन भर अपनी साधारण स्थिति से ही सन्तुष्ट रहा।

प्रसाद के सम्बन्ध में भी यही बात हुई। उस काल के जितने लेखक कवि थे सब द्विवेदी जी के प्रभाव क्षेत्र में सीमित थे, किन्तु प्रसाद ने कुछ

अपना विलक्षण स्वर सुनाया। इससे वह आरम्भ से ही खिंचे से थे और यही कारण था कि सरस्वती से उन्हें प्रोत्साहन नहीं मिला।

द्विवेदी जी ने अपने जीवन काल में साहित्य के निर्माण के साथ पत्रकार-कला का जैसा उच्च आदर्श हिन्दी के सम्मुख रखा था वैसा हिन्दी के इतिहास में उससे पूर्व नहीं था। मै तो उनकी निर्भीक टिप्पणियाँ पढ़कर मुग्ध हो जाता हूँ कि उनके जैसा ही व्यक्ति उस गुलामी के दिनों में भी इतना साहस कर सकता था। महात्मा टाल्सटाय की जीवनी सरस्वती में छप चुकी थी। उनके सम्बन्ध में एक टिप्पणी देते हुए उन्होंने जून १९०८ की सरस्वती में लिखा था—'आप (टाल्सटाय) बड़े निर्भीक पुरुष हैं। यथार्थ बात कहने में आप अपना सानी नहीं रखते। अप्रिय सत्य कहने में आप जरा भी पशोपेश नहीं करते। आपकी राय बड़े मार्के की होती है। योरप वाले आपकी सम्मति को बड़े आदर की दृष्टि से देखते हैं। रूस के जार को तो आपने कितने ही बार फटकारा है। —"

टाल्सटाय अपने जीवन काल में एक ऋषि की भाँति विख्यात थे, किन्तु हिन्दी को उस समय उनके ग्रन्थ और जीवनी से परिचित द्विवेदी जी ने ही कराया था। उस समय योरप क्या संसार की सभी महान आत्माओं के प्रति उनका सद्भाव था और साहित्यिकों की ओर तो विशेष।

प्रसाद के ६ पत्र

यह कितने आश्चर्य की बात है कि १४, १५ वर्षों तक निरन्तर प्रसादजी के सत्संग में रहकर उनके लिखे केवल ६ पत्र ही मेरी फाइल में हैं, उनमें भी चार उनके हाथ के लिखे हैं और अन्य दो पर केवल उनके हस्ताक्षर हैं।

प्रसाद के व्यक्तित्व, अध्ययन और महत्ता के सम्बन्ध में मेरी धारणा अटल थी। कहीं बासेवलकी भाति मैं भी अपनी नोट बुक रखे होता तो आज विश्व साहित्य में एक अनूठी गाथा प्रस्तुत करता। किन्तु इसमें लापरवाही मेरी ही थी और दूसरी बात यह भी है कि सब कुछ समझते हुए भी अपने निकटतम के महान् कृत्य और महत्त्व को उसके जीवन काल में मान लेना कठिन होता है। मनुष्य की परख तो उसके बाद ही होती है।

प्रसाद के जीवन में उनकी सबसे बड़ी अभिलाषा पत्र-पत्रिका निकालने की थी। 'इन्दु' ने हिन्दी साहित्य के विकास में कितना कार्य किया है यह हिन्दी साहित्य के इतिहास की सामग्री है। अपनी रचनाएँ अपने ही पत्र में प्रकाशित हों यह मूल कारण नहीं था। क्योंकि उस युग में प्रसाद की ख्याति समस्त हिन्दी संसार में हो चुकी थी। किसी भी

पत्र पत्रिका में उनकी कविता और लेख को सम्मान के साथ स्थान मिलता था। साहित्यिक रुचि उनकी बड़ी पुष्ट और निराली थी। उस सम्बन्ध में दूसरे की सम्मति समझौता नहीं कर सकती थी। आगे चलकर हम लोगों की असफलता का यही एक कारण बना। मैंने, शिव जी ने और अन्य सभी अनुभवी पत्रकारों ने परामर्श दिया कि शुद्ध साहित्यिक पत्र पत्रिका का प्रकाशन आर्थिक दृष्टि से किसी तरह भी लाभकर न होगा। लेकिन उन्होंने किसी की न मानी, किसी की न सुनी और 'जागरण' शुद्ध साहित्यिक निकलकर ही रहा।

प्रसाद जी का ढंग तो बहुत अलग था। वह मौन तपस्वी की भाँति अपना कार्य पूर्ण करते थे। कभी प्रचार और ख्याति के लिए लालायित नहीं हुए अन्यथा वह अपने जीवनकाल में ही पूजे जाते। मेरी चिन्ता और हताशा [illegible] उनका निवेदन यही रहता था कि अभी तुम

उन्होंने बहुत ही कम पत्र लिखे हैं। मेरे ऊपर उनका अधिक विश्वास था। दूसरी बात यह भी थी कि जब प्रतिदिन ७-८ घण्टे साथ रहता तो पत्र लिखने का अवसर कैसे मिलता ? जरूरी कार्यों के लिए रद्दी चिट्ट ही पर्याप्त होते थे जो रद्दी होने के कारण अपनी महत्ता के अस्तित्व को अपने साथ ही विलीन कर गये।

अब मैं उनके उन ६ पत्रों को प्रकाशित कर उन्हें अपने चिर कल्पित 'प्रसाद संग्रहालय' की सम्पत्ति बना रहा हूँ। यदि मैं बनारस से कलकत्ता न गया होता तो प्रसाद का एक पत्र भी अपने पास न होनेकी कसक के साथ अपना जीवन समाप्त करता।

(१)

५-४-२९,

प्रिय व्यास जी,

प्रमोद से सब समाचार मिलता जाता था। अभी कलकत्ता कितने दिनों तक रहने का विचार है ? आकाशदीप की कापी के लिए प्रन्नालाल से कहा तो उन्होंने प्रूफ ही कल भेजने के लिए कहा—इसलिए उसे नहीं भेज सका। चित्र यदि कहो तो आइवरी ही भेज दूँ, उसीसे बनवा लेना, रायसाहब से चित्र मांगा है। उन्होंने भेजने के लिए कहा है। तुम्हारा उत्तर आनेपर दोनों साथ ही भेज दूँगा।

स्वास्थ्य ठीक नहीं। पत्र लिखने में भी कष्ट हो रहा है। निराला जी क्या कर रहे हैं, कहना कि कुशल समाचार लिखें—और शिवाजी से भी पूछना।

बच्चा से आशी...कह देना और क्या लिखूं...शुभाकांक्षी।

जयशंकर प्रसाद

(२)

काशी
१२-४-२९.

प्रिय व्यासजी,

पत्र मिला। रायसाहब का चित्र तो भेज दिया गया था। सेठजी से मैंने एक पुस्तक देने के लिए अवश्य कहा था, किन्तु क्या करूँ, तुम तो जानते हो।

आकाशदीप भेजने के लिए मैंने अवश्य चेष्टा की थी, किन्तु जब प्रूफ आ गया तो मैं क्या करता। तुम्हारे देखने के लिए उसका एक पेज भेज रहा हूँ।

और कोई नया समाचार नहीं। निराला जी और विश्वम्भरनाथ जी का समाचार लिखना। प्रमोद का पत्र मिला होगा।

शुभाकांक्षी

—

१२-४-२९ और २७-४-२९ के दोनों पत्र कर्मचारी द्वारा लिखे गये हैं। तबीयत खराब होने के कारण ही वह खुद नहीं लिख सके। दूसरे पत्र में पूरा हस्ताक्षर भी नहीं है केवल 'प्रसाद' से ही पता चलता है कि लिखने में कठिनाई थी। अपने पिछले ५-४-२९ के पत्र में उन्होंने इसकी सूचना दे दी थी।

(४)

प्रिय व्यासजी,

पत्र मिला। पाठक जी और वर्मा को मैंने समझा दिया है। अब पुस्तक छपेगी। ऐसा मालूम होता है कि वर्मा को कुछ दूसरा काम जल्द छापने को मिल गया था, इसलिए यह टटा खड़ा करके उन्होंने समय निकाल लिया था। यही बात मैंने वर्माजी से भी कह दी है कि इस तरह के बहाने निकाल कर काम रोकने से तो नहीं चलेगा।

तुम्हारे स्वास्थ्य का विस्तृत समाचार नहीं मिला, क्यों? प्रमोद से बराबर भेंट होती है। कोई नयी बात नहीं। तुम निश्चिन्त होकर अपने स्वास्थ्य को देखो। हो सके तो पत्र में पूरा समाचार लिखना।

शुभाकांक्षी
जयशंकर प्रसाद

(५)

रामनवमी
१९८९ (वि० सम्वत)

प्रिय व्यासजी,

पत्र मिला, सब कुशल है सब काम ठीक से हो रहा है। वर्मन प्रेस के सम्बन्ध में जो उचित समझिये कीजिये, किन्तु 'जागरण' के लिए अपने प्रेस का प्रबन्ध अवश्य कीजिये।

अभी कितने दिनों तक वहाँ रहेंगे? कुशल समाचार तो बराबर लिखना चाहिये। इधर चुप्पी क्यों साध लिया था?

सस्नेह

जयशंकर प्रसाद

(६)

काशी

३० ६-३२

प्रिय व्यासजी,

शिवपूजनजी ने कहा है कि इस बार अंक में विलम्ब न होगा। और छप भी रहा है। आज मैंने फार्म देखा है शीघ्र ही निकल जायगा और सब कुशल है।

शुभेच्छु

जयशंकर 'प्रसाद'

पहले तीन पत्र अप्रैल १९३० ई० के लिखे हैं। उस समय मैं 'मतवाला' आफिस में ठहरा था। 'मधुकरी' छप रही थी। मकान के

समार को चकित कर दिया था। मैं अपनी और प्रसाद जी की पुस्तकें भी वहाँ से निकालना चाहता था। मैंने 'आकाशदीप' भेज देने के लिए लिखा था। उसी के उत्तर में उन्होंने लिखा। श्रीरायकृष्णदास के भारती भण्डार द्वारा उसकी कापी सरस्वती प्रेस में छपने के लिए श्री प्रवासीलाल वर्मा को दे दी गयी थी।

प्रसाद जी ने चित्र के सम्बन्ध में जो 'आड्बरी' लिखा है उसका तात्पर्य यह है कि उनका एक तिरगा चित्र हाथी दात के प्लेट पर स्वर्गीय रामप्रसाद चित्रकार ने बड़े परिश्रम से बनाया था। यह रायसाहब की सूझ थी। यह चित्र रंगीन होने के कारण देखने में भव्य मालूम पडता था, किन्तु उसमें प्रसाद स्वाभाविक रूप में नहीं थे। रामप्रसाद जी की कूची ने केमरे से होड़ लेने में बहुत अधिक परिश्रम किया था फिर भी वह चित्र फोटो का रूप नहीं ग्रहण कर सका। प्रसाद जी को यह चित्र स्वयं बहुत पसन्द था और इसीलिए बाद में 'हस' के एक अक में मैंने उसे तिरगा छपवाया था। 'मधुकरी' के लिए मैंने उसे ठीक नहीं समझा और एक दूसरा चित्र देकर काम चलाया।

'बचा से आशी . कह देना।' यह बचा श्री मुकुन्दीलाल गुप्त हैं जो कलकत्ता में रहते हैं। यह प्रसाद जी के निकट सम्बन्धी हैं और उन्हीं के बहुत आग्रह पर प्रसाद जी कलकत्ता गये थे और उन्हीं के यहाँ टिके थे। उस समय मैं भी उनके परिवार के साथ गया था।

रामनवमी १९८९ वि० वाले पत्र में 'वर्मन प्रेस' के सम्बन्ध में जो लिखा है वह एक दूसरी योजना थी। वर्मन प्रेस कलकत्ता के अध्यक्ष श्री रामलाल वर्मन से मेरी बड़ी घनिष्ठता थी। उनके स्वर्गवास के बाद वर्मन प्रेस की स्थिति अत्यन्त शोचनीय हो गयी थी। उनके परिवार

और शुभचिन्तकों का आग्रह था कि उसकी व्यवस्था मैं स्वयं देखूं। कई कारणों से वह न हो सका।

'इधर चुप्पी क्यों साध लिया था?' यह रहस्यवादी वाक्य है। पढने पर पत्र न मिलने का उलाहना सूचक है, किन्तु तह में उस खिंचाव की ओर संकेत है कि तुम दूर हटकर अन्य योजनाओं पर क्यों ध्यान दे रहे हो? सब बात विस्तृत क्यों नहीं लिखते?

'जागरण के लिए अपने प्रेस का प्रबन्ध अवश्य कीजिये।' इसका गूढ़ अर्थ यही होता है कि बनारस छोड़कर दूसरी जगह रहना ठीक नहीं।

जब अपने साथियों से बिछुड़कर एकाकी आँसू की उस पंक्ति को गुन गुनाने लगता था—

जीवनकी जटिल समस्या—
　　है बढ़ी जटा सी कैसी?
उड़ती है धूल हृदय में,
　　किसकी विभूति है ऐसी?

उस समय संध्या के आकाश में शीतकालीन आश्रय की खोज में पक्षियों का झुण्ड तीव्र गति में उड़ता चला जाता था और पीछे, दूर! बहुत दूर!! एक बिछुड़ा पक्षी अपने दल से मिल जाने के लिए कितनी उत्सुकता से आगे भागा जाता था और कुछ ही देर में अस्ताचल की लालिमा घने अन्धकार की काली चादर ओढ़कर सूनी हो जाती थी।

— ~ —

प्रसाद के प्रशंसक

प्रसाद जी के यहाँ प्रति दिन सुबह शाम लोगों का जमघट होता था। इनमें जैसे लोगों का आगमन होता वैसी ही चर्चा छिड़ती थी। क्योंकि वहाँ समाज, राजनीति, साहित्य और घरेलू मामलों जैसे बहुतेरे प्रसंग छिड़ते थे और उन पर बड़ी खुली दृष्टि से वार्ता होती थी। हिन्दी संसार की गति विधि पर तो प्रति दिन नवीन सूचनाओं का स्वागत होता था। ऐसे विषयों पर श्रीकृष्णदेव प्रसाद गौड के आने पर विशेष प्रकाश पड़ता था।

उस काल में प्रसाद के प्रशंसकों या आलोचकों में तीन प्रमुख थे, गौड जी, सुमन जी और नन्ददुलारे वाजपेयी जी। लेकिन गौड़ जी का सम्मान इन तीनों में विशेष रूप से माना जाता था। गौड़ जी, प्रसाद जी की दृष्टि में बहुत निकट थे और उनकी बातों पर वह गम्भीरता पूर्वक विचार करते थे। गौड़ जी को वह मास्टर-साहब के नाम से ही सम्बोधित करते थे। मास्टर साहब की बातें सदैव दिलचस्प ही हुआ करती थीं। जिसे सभी लोग उत्सुकता से सुनते थे।

गौड़ जी के चरित्र-चित्रण में प० सीताराम चतुर्वेदी ने निम्न बातें लिखी हैं—

'गौड़ जी को चाय पीने का भी चस्का है और जैसी चाय वे बनाते हैं क्या कोई बनावेगा। पाव रोटी चीर कर उस पर वे बड़े जतन से, ऐसा मक्खन लगाते हैं कि कोई भाँप तक नहीं पावे कि मक्खन लगाया जा रहा है। बेढब जी कहते हैं कि बढ़िया मक्खन लगाने वाले और मक्खन लगवाने वालों की परख करने वाले गुनी लोग लखनऊ में हैं। जो दो चार काशी में थे भी वे अब लखनऊ जा बसे हैं।'

सचमुच गौड़ जी का मजाक दूर की उड़ान तक पहुँचता है। प्रसाद जी के यहाँ मास्टर साहब की बातें सब को खिलखिला देती थीं। गौड़ जी में सब से बड़ी विशेषता यह है कि उनका व्यंग्य मनोमालिन्य का पक्ष ग्रहण नहीं करता, जिससे वह किया जाता है खुद वही मुस्करा देता है। रहस्यवाद की व्याख्या करने वाले कवि के सम्मुख भी छिपकिली वाला मजाक तो वास्तविकता एक पहेली बन गई।

गौड़ जी की इसी प्रतिभा ने उन्हें हास्यरस का लेखक बनाया और बेढब नाम से वह हिन्दी संसार में विख्यात हुए। लेकिन जिन दिनों

संसार के किसी भी साहित्य के इतिहास में यह देखा गया है कि निर्माण के युग में बहुधा प्रतिद्वन्द्विता के स्वर में तू-तू-मैं-मैं का भी बोलबाला रहा है। प्रसाद काल में भी ऐसा ही हुआ है। एक तरफ प्रेमचन्द जी और दूसरी ओर मैथिलीशरण जी की प्रतिद्वन्द्विता की प्रतिक्रिया उन्हें सजग कर विकल बना देती थी। प्रत्यक्ष रूप से द्वन्द्व के लिए प्रसाद जी ने अपने जीवन काल में किसी से भी हाथ नहीं मिलाया, यह उनके शक्तिशाली होने का भी एक प्रमाण था। ऐसे समय बहुधा उनकी छत्र छाया में बैठने वालों के सामने यह समस्या खटक उठती थी तब उनमें से कोई आगे बढ़ता था।

लाला भगवानदीन जी भी प्रसाद जी के विरोधियों में थे। उन्होंने उनके प्रति तीखा प्रहार किया था। गौड़ जी ने अपनी हिन्दी की शिक्षा उनसे ही प्राप्त की थी। उर्दू की गोद में उनका लालन पालन हुआ था अतएव संस्कृत मिश्रित क्लिष्ट हिन्दी के प्रति उनका कोई अनुराग न था, किन्तु प्रसाद के संसर्ग ने उन्हें प्रौढ़ता के पथ पर अग्रसर किया।

अपने अध्ययन, लगन और व्यवहार कुशलता ने गौड़ जी को हिन्दी जगत में चिरपरिचित करा दिया है। उनकी कीर्ति में प्रसाद जी की प्रेरणा प्रमुख रही। उनकी व्यवहार कुशलता ने घर और बेनिया बाग से लेकर श्मशान की अन्तिम फोटो तक साथ दिया। उसके बाद भी 'प्रसाद-परिषद' की स्थापना कर वह अपने कर्तव्य से शिथिल नहीं हुए। सब से अधिक नोट करने की बात तो यह है कि जिस देवउठनी एकादशी के दिन गौड़ जी इस धरती पर आते हैं उसी दिन प्रसाद यहाँ से बिदाई लेते हैं, यह भी विधाता का एक रहस्यपूर्ण दिन है। जिस दिन देव उठते हैं उसी दिन हिन्दी का देव चिर निद्रा में विश्राम लेता है।

रामनाथ लाल 'सुमन'

मैं बतला चुका हूँ कि 'उग्र' मेरे पहले सखा हैं। उनके साथ ही उन दिनों 'सुमन' से मेल बढ़ा था। 'सुमन' को निकट लाने में उनकी स्थिति ने अधिक आकर्षण पैदा किया था। वह कम्बल ओढ़े सड़क पर पुस्तकें पढ़ते थे। आरम्भ से अध्ययन की ओर उनकी रुचि विशेष थी और पुस्तकालय में भी बैठे घन्टों अपना समय व्यतीत करते थे। उस समय वह लेखक नहीं बने थे। चुपचाप एकान्त में बैठ कर सब से छिपा कर वह कविता करते थे। उन्होंने स्कूली शिक्षा का माध्यम नहीं अपनाया था। लाला भगवानदीन जी के विद्यालय का आश्रय ग्रहण किया था। लाला जी की छाप उन पर भी थी। 'उग्र' से विशेष परिचित होने के कारण वह मेरे भी समीप आये थे।

सुमन ने अपने अध्ययन के बल पर खुद अपना निर्माण किया है। वह गम्भीर और शिष्ट थे, किन्तु कभी कभी बड़ी लम्बी डींगने लगते तो हम सभा को मजाक करने के लिए बाध्य करते थे और इसीलिये गौड़ जी ने उनका नामकरण ही भाई बर्नार्ड शा किया था। सुमन में एक विशेषता यह भी थी कि मजाक में वह उत्तेजित नहीं होते थे, बुरा भले ही मान जायें। उनके प्रति हम सबों की सद्भावना का यह भी एक कारण [illegible] था।

आरम्भ में सुमन की जीविका का कोई आधार नहीं प्रस्तुत हो सका [illegible] निश्चय किया। हम सब ने उनसे [illegible] [illegible] गौड़ जी ने एक [illegible] [illegible]।

प्रियवर व्यास जी,

भाई सुमन के बम्बई प्रवास के अवसर पर आज सायंकाल जलपान होगा। और उसी के पहले ५ बजे के लगभग एक फोटो भी लेने का विचार है। अवश्य पधारिये।

श्रीकाशी
८-१०-२७

सस्नेह
कृष्णदेव प्रसाद गौड

स्थान—कारमाइकेल पुस्तकालय

सुमन के परिवार को व्यवस्थित करने में प्रसाद जी का सब से बड़ा हाथ था। उन्होंने 'सुमन' की विकट परिस्थिति में उनका सब सामान मँगवा कर अपने अलग एक घर में उन्हें बसा दिया था। इससे वह निश्चिन्त होकर जीविका का प्रयत्न कर सकते थे। उनकी मातमी सूरत देख कर बहुधा प्रसाद जी भी छेड़ देते थे। अब प्रतिदिन का साथ हो गया था। प्रसाद जी का संकेत पाकर मैं सुमन को गुदगुदाने लगता था। मजाक बढ़ जाने पर कभी 'सुमन' तिलमिला उठते थे, लेकिन हमारी प्रसन्नता का वही एक लक्ष्य होता था।

एक दिन वह अपने ऊपर के कमरे में दरवाजा बन्द कर पड़े थे। कई बार आवाज देने पर नहीं बोले। प्रसाद जी ने सब किस्सा बतलाया और उन्हीं के कहने पर मैंने ऊपर जाकर उन्हें पकड़ लाने का निश्चय किया; किन्तु वह मौन ही थे और दरवाजा नहीं खोला। मैं निराश लौट आया।

वह जब चैतन्य हुए तब उन्होंने एक 'प्राइवेट' पत्र मुझे दिया, जिसमें अपने सम्बन्ध में सफाई देते हुए उन्होंने लिखा था—मेरे आज के कृत्य से यदि तुम्हें चोट पहुँची हो और तुमने अपना अपमान समझा हो तो मैं दुःखी हूँ और इसके लिये क्षमा माँग लेने में अपना

सम्मान ही समझूँगा। मेरी यह प्रकृति है कि जो मेरे अपने मित्र हैं उनसे मैं मानापमान का ख्याल नहीं रखता। तुम तो मुझे जानते भी हो फिर भी यदि तुमने कुछ दूसरा ख्याल कर लिया हो तो मेरा यह कह देना उचित होगा कि बात वह नहीं थी। (१८-३-२७)

'सुमन' अजमेर जाकर जम गये। त्याग-भूमि की महत्ता में एक मात्र सुमन का ही परिश्रम था। वहाँ से उन्होंने लिखा था—

त्याग-भूमि
१०-७-२८

मैं यहाँ सकुशल पहुँच गया हूँ। तुम लोगों का अभाव बड़ा खलता है। एकान्त में दिन बिताता हूँ। यहाँ सब 'प्यूरिटन' हैं। शहर भी गन्दा है। शाम को पहाड़ियों के किनारे या अनासागर पर—जहाँ शाहजहाँ का बारहदरी है—चला जाता हूँ—कुछ देर के लिये जी बहल जाता है।

मैं तो हिन्दी वालों के सम्बन्ध में निराश होता जा रहा हूँ। अंग्रेजी में कैसी आलोचनाएँ निकलती हैं। घनिष्ट से घनिष्ट मित्र साहित्य सेवी की कैसी पूर्ण, गुण दोष की विवेचना के साथ उसके व्यक्तित्व का विश्लेषण करते हुए कैसी सुन्दर आलोचनाएँ होती हैं। मैंने उसी ढग पर चलने की कोशिश की थी। लेख छपे या न छपे पर मुझे सन्तोष है कि मैंने प्रसाद जी के प्रति कर्तव्य पालन किया। पद्मसिंह जी, बनारसीदास जी इत्यादि तो माखन लाल जी को ही सर्वश्रेष्ठ कवि मानते हैं...

मैंने अपनी आलोचना में प्रसाद जी को नयी हिन्दी कविता का जनक स्वीकार किया है, उन्हें सर्वश्रेष्ठ हिन्दी नाटककार माना है, उन्हें सर्व प्रथम मौलिक कहानी लेखक लिखा है। उनकी कल्पना, उनके सौंदर्य को परखने, उनकी खोज, उनकी परमोच्च प्रतिभा एवं मौलिकता, बौद्ध सस्कृति के प्रति उनके अगाध प्रेम, उनकी छोटी नये ढंग की कहानियों की दिल खोल कर तारीफ की है। स्पष्ट शब्दों में लिख दिया है कि माँ के मन्दिर में इतने सरस, इतने कोमल और सुगधित सुमन किसी आधुनिक लेखक ने नहीं चढ़ाये। उनकी निस्पृहता की तारीफ की है। यह भी लिखा है कि उनको हमारा नेतृत्व ग्रहण करना चाहिये, पीछे के लोग आगे निकले जा रहे हैं। उनकी मस्ती का, उनकी सहृदयता का 'एडवान्टेज' है। यहाँ तक लिख दिया था कि हिन्दी कवियों में वे शायद सब से पूर्ण मनुष्य हैं। मेरी कलम से इसकी शतांश प्रशंसा भी कभी किसी की न हुई होगी पर बातें सची थीं इसीलिये मैंने कह दीं। मुझे तो याद नहीं आता कि मैंने उसमें कौन सी 'महत्वहीन' बात लिखी। द्विवेदी जी और रवि बाबू का जिक्र मैंने प्रसाद जी की विद्वत्ता और पाण्डित्य दिखाने के लिये किया था और इसीलिये भी कि आजकल इस प्रकार का संस्मरण देकर जीवनी लिखने की प्रथा दुनिया में सब से

सुन्दर और पूर्ण मानी जाती है। फिर भी तुम लोग सन्तुष्ट नहीं। बनारसीदास चतुर्वेदी जी को मैं तुम से अधिक जानता हूँ। वे द्विवेदी जी और रवि बाबू की बात रखने में हिचकिचाते होंगे। उनके मन पर प्राचीन आदमियों की छाप है। एक नये ढंग का कवि, द्विवेदी जी को चुप कर दे, रवि बाबू को तर्क में जीत ले, यह इन 'सत्यवादियों' की सहन सीमा के बाहर है। मैंने अत्यन्त नम्र शब्दों में इन बातों का उल्लेख किया है। फिर भी असंतोष! अब भक्ति की हद होती है!—चतुर्वेदी जी में पुराने आदमियों पर अब श्रद्धा है।

मेरा हृदय तो बहुत दुखी हो गया है। हिन्दी संसार में बड़ा द्वेष, दंभ और असहृदयता का वातावरण है। धीरे धीरे मैं लिखने पढ़ने के इन झगड़ों को बंद करना चाहता हूँ। चुपचाप यहाँ काम करूँगा और पेट पालूँगा। तुम लोगों के पत्र से खिन्न हो कर और बनारसीदास जी तथा अन्य हिन्दी पत्र-सम्पादकों का व्यवहार देख कर ही मैं इस लेख माला को रोक देने का विचार कर रहा हूँ। चतुर्वेदी जी को मैंने लिख भी दिया है कि कृपया लेख लौटा दें।"

यह तो विवरण प्रसाद जी पर लिखे गये लेख के सम्बन्ध में हुआ। अब 'सुमन' जी की अपने सम्बन्ध की कुछ वैसी बातें सुनिये जिन पर उनका राम भाई नाराज़ हो गया था।

"अन्यथा हिन्दी समाज से अलग ही रहना अच्छा है। मुझे [illegible] है कि दूर दूर के भाई, जिन्होंने मेरी शकल नहीं देखी, मुझे स्मरण करते हैं—मेरे प्रति सहानुभूति से उनका हृदय भरा है—पर [illegible] 'विशाल भारत' के लेख पर उनके [illegible] पत्र लिखे आ [illegible]—[illegible] तुम—जिस में [illegible] हैं। ऐसी बातें [illegible] रहा।

· मेरे एक अंग्रेज मित्र ने—जो अंग्रेजी समाचार-पत्र-जगत के एक विख्यात रत्न हैं, इंग्लैण्ड से मेरी आठ फूल्स्केप में एक जीवनी लिख भेजी है। मेरी सम्मति के लिये! वे वर्षों से मुझे इसके लिये दबाते रहे हैं और मैं उनके स्नेह से दबा होने के कारण इन्कार करता रहा हूँ। इस जीवनी की अंग्रेजी इतनी उच्चकोटि की है कि यहाँ के गवर्मेण्ट कालेज के एक अंग्रेजी के प्रोफेसर उसके अनेक वाक्य नोट कर ले गये हैं। यह जीवनी वे विलायती पत्रों में छपाना चाहते हैं। यद्यपि अभी तक मैंने उन्हें आज्ञा नहीं दी है और न देने का विचार है, क्योंकि वैसा करने से वे मुझे एक महत्वाकांक्षी व्यक्ति समझ लेंगे। अभी बनारस से लौट कर एक और अंग्रेज महिला मित्र (Mrs Madeline Handınfe) मेडेलाइन हेन्डीनेफ का पत्र आया है। वे इंग्लैण्ड से ३१ अगस्त को भारत के लिये रवाना होंगी और मुझसे विशेष रूप से मिलना चाहती हैं। वे दर्शन शास्त्र की पण्डिता हैं और अनेक अंग्रेजी पत्रों में भारत के तथा यहाँ की संस्कृति एवं 'फिलास्फी' के सम्बन्ध में लिखा करती हैं। यह तो है दूर दूर के साधारण, प्राय अपरिचित मित्रों का स्नेह। वे समझते हैं आदमी को। और एक तुम लोग हो जो मेरी शैली और भाषा को 'महत्वहीन' कह कर अपने 'रिमार्क्स' पास करने में लगे हो।

·· मैंने यह पत्र बहुत दु खी होकर लिखा है। विनोद, जिन्हें मनुष्य अपना समझता है, उसकी कृत्रिमता और झूठे उपदेश देख कर उसको वेदना होनी ही चाहिये। जो हो—इसी उद्वेग में इतना बड़ा पत्र लिख गया अन्यथा मन की जैसी अवस्था है, उसमें एक पेज भी लिखना कठिन होता।

···यदि मेरी बातों से दु ख हो तो क्षमा करना। इधर के आक्रमणों

से मेरे दिल में बडी चोट पहुँची है। ऐसे समय सान्त्वना देने की जगह तुम लोगों की इन बातों से दुःख पहुँचना स्वाभाविक था। मेरा हृदय इन मामलों में बड़ा 'सेनसेटिव' है।

क्या कोई 'शृगारहीन' सामाजिक कहानी भेजोगे?

तुम्हारा—

सुमन

'सुमन' का यह पत्र पढ कर उस समय हिन्दी ससार म आलोचना का क्षेत्र कैसा था समझने म कठिनाई न होगी।

प्रसाद पर जितनी पुस्तक प्रकाशित हुई हैं उनम सुमन की लम्बी 'प्रसाद की काव्य साधना' का पाँचवाँ सस्करण इस समय मेरे सामने है। यह पुस्तक प्रसाद जी के बाद ही प्रकाशित हुई, उसकी भूमिका म सुमन ने उस काल का वर्णन किया ह।

"प्रसाद जी क जीवन न हमारे साहित्य विशेषत काव्य की बीसवी शताब्दी का इतिहास हो अभिव्यक्त ह। वह आधुनिक हिन्दी काव्य के पिता थ

यह बात नहीं थी, इसलिए यह लेख माला वहीं रह गयी।"

उसी पुस्तक में 'सुमन' ने प्रसाद के परिचय में लिखा है— ...इसीलिये किसी रचना को व्यापक जीवन से अलग करके नहीं देखा जा सकता। ...फिर रचनाकार के जीवन-क्रम का साहित्य में जो प्रकाश पड़ता है, वह भी शैली, समय की गति एवं भाषा की व्यंजना शक्ति के अनुसार कई रंगों में आता है।

श्री नन्ददुलारे वाजपेयी

वाजपेयी जी ने हिन्दू विश्वविद्यालय से एम० ए० पास किया था। अपने अध्ययन काल में ही उनके लेख और आलोचनाएँ हिन्दी पत्र पत्रिकाओं में छपती रहीं। प्रसाद मंडली में उनके घुल-मिल जाने का एक कारण यह भी था कि वह निराला जी के गाँव के आस-पास के थे। निराला जी का उन्हें स्नेह प्राप्त था। प्रसाद जी भी जानते थे कि वे उन्नतिशील प्रकृति के हैं, आगे चल कर यश के भागी होंगे। अतएव उनके लेखों को सुनकर अपना भी 'सजेशन' दे दिया करते थे। वे बहुधा साहित्यिक जमावड़े में सम्मिलित होते, स्वयं बहुत कम बोलते और सुनते सब की। इस तरह अपने प्रति एक गम्भीर सद्भावना को आकृष्ट करते रहे। जो लोग अपनी साधारण स्थिति से संघर्ष कर सम्पन्नता प्राप्त करते हैं वे अधिकांश शिष्टता का सार्टिफिकेट लेकर ही प्रवेश करते हैं। वाजपेयी जी ऐसे ही युवकों में थे।

मेरी स्पष्टता और न घनिष्ट होने वाली प्रकृति से भी उनका मेल खा गया क्यों कि उस काल में बिना मेरा समर्थन लिये प्रसाद की मंडली में आना खटके से खाली नहीं था। प्रसाद के प्रभाव से ही वह दैनिक भारत के सम्पादक हो कर प्रयाग गये और वहाँ से फिर उन्हें अग्रसर होने का क्षेत्र, प्राप्त हुआ।

भारत सम्पादक हो कर प्रयाग जाने पर उनका पत्र मिला—प्रसाद जी की कहानी मिली। छप रही है। 'भारत' बिना आप लोगों के, अच्छे ढग से नहीं निकल सकेगा। मै तो इस क्षेत्र में अभी रंगरूट ही कहा जाऊँगा आपके सहृदय भाव को मैं पहचान गया हूँ।

फिर—

न आपने पत्र का उत्तर दिया न शिवपूजन जी ने और प्रसाद जी तो कभी लिखते ही नहीं। एक कविता के लिए मेरा कितने बार कहना जरूरी है यह मैं कह नहीं सकता। उन्होंने रहस्यवाद के सम्बन्ध में लेख माला प्रकाशित करने की बात कही थी, वह भी नहीं भेजी। कंकाल पर अपनी लेख माला प्रकाशित करने के पहले मेरा आग्रह है कि प्रसाद जी एक कविता दें। (११ ९ ३०)

श्री रामकृष्ण शुक्ल 'शिलीमुख'

'प्रसाद की नाट्यकला' के लेखक से न मेरा ही परिचय था और न प्रसाद जी का ही। उनकी पुस्तक ने हम दोनों को आकर्षित किया। उनके सम्बन्ध में पं० ज्वालादत्त शर्मा ने भी उनकी विद्वत्ता की बहुत प्रशंसा की थी। उनकी पुस्तक प्रसाद के सम्बन्ध में आरम्भिक थी। इसलिए भी उसका विशेष महत्व समझा गया। उनके विचार और अध्ययन भी बहुत ठोस थे। प्रसाद जी ने उनकी किसी बात से मतभेद नहीं प्रकट किया इससे मेरी दृष्टि में उनका सम्मान और बढ़ा था।

मुरादाबाद
२०.५.१९३०

मैं इलाहाबाद से काशी भी आया और आपके इलाहाबाद में दर्शन नहीं हुए। [illegible] आपने एक बार प्रयाग आने का वादा किया था।

कहिए, हरिद्वार रहने के आपके इरादे का क्या हुआ । । प० ज्वाला-दत्त जी से अभी एक बार ही मुलाकात हुई और मैं उस समय उनसे पूछना भूल गया ।

आपने मेरी पुस्तक पढी या नहीं । आपकी क्या धारणा रही । मैं प्रसाद जी की धारणा को जानना चाहता हूँ, परन्तु उनको लिखते हुए डरता हूँ । अगर आपकी और प्रसाद जी की निष्पक्ष राय मालुम हो तो बड़ा सुखी होऊँगा ।

रामकृष्ण शुक्ल

उस काल में विद्वानों को भी अपनी जीविका के लिए भटकना पड़ता था । ऐसी स्थिति में शुक्ल जी भी पड़े थे । उनके एक पत्र से प्रकट होता है—'परिस्थितियों में कुछ जटिलता आ जाने के कारण मैं आज कल कुछ विक्षिप्त सा हूँ और मेरा अधिकांश समय इधर उधर घूमने में ही व्यतीत हुआ है ''सुना है हिन्दू विश्वविद्यालय में पं० रामचन्द्र शुक्ल के छोड देने से हिन्दी विभाग में एक जगह खाली हुई है । वहीं प्रार्थना पत्र भेज दिया है । परन्तु मेरा होना न होना राय साहिब बाबू श्याम सुन्दर दास के हाथों में है ''मैंने प्रसाद जी के सम्बन्ध में उनकी कुछ सम्मितियों का खण्डन किया है । मालुम नहीं इसका उनके ऊपर क्या प्रभाव पड़ा हो । देखिए ।' (८-६-३०)

कहना न होगा कि शुक्ल जी का अनुमान ठीक था और वह निराश हुए । रुसी ने निर्णय करना होगा कि खण्डन और समर्थन के उस युग में साहित्य कितने बन्धन में बंधा था, और इसी मार्ग से प्रसाद जी को आगे बढना था ।

विरोधी संगठन

मैं लिख चुका हूँ कि प्रेमचन्द स्कूल की स्थापना होने के बाद मैथिली शरण जी की सहानुभूति स्वाभाविक रूप से उनके स्कूल की तरफ गई अतएव प्रेमचन्द स्कूल का मेल द्विवेदी जी के शिष्य वर्ग से जुड़ा। 'हंस' के बाद प्रसाद और प्रेमचन्द में द्वन्द्व की प्रवृत्ति समाप्त हो रही थी। क्योंकि इस अन्तर्द्वन्द्व के कारण हिन्दी में खूब धूम मच चुकी थी। प्रेमचन्द जी को 'माधुरी' द्वारा प्रचार का नया साधन मिल चुका था और वह उसके सम्पादक होने के कारण उसका पूरा उपयोग अपने मनोनुकूल कर सकते थे। मैं स्पष्ट कर चुका हूँ कि 'हंस' ही दोनों स्कूलों के मिलन की कड़ी थी।

अब प्रेमचन्द जी का दिल तो साफ हो चुका था। प्रेमचन्द जी को चाहे बाहर नीति कुशल या चालाकी का प्रयोग करने वाला समझा गया हो लेकिन मैं और प्रसाद जी यह भली भाँति समझ चुके थे कि प्रेमचन्द जी दिल के साफ आदमी हैं। अपना [illegible] और अपने [illegible] उद्योग की सफलता तो [illegible] साहित्य [illegible] हैं [illegible] किसी चाल से अपना कार्य सिद्ध करना उनके स्वभाव में नहीं था। [illegible] उन्हें [illegible] प्रहार करना था तो उनके

खुल कर कहा कि प्रसाद के नाटक गडे मुर्दे उखाड़ने के प्रयास हैं और बाद में अपने उन्हीं विचारों को स्वयं अपनी गल्ती स्वीकार कर उसका परिमार्जन किया। यह साधारण बात नहीं थी, प्रेमचन्द ऐसे महान् व्यक्तित्व का ही कार्य था।

प्रसाद जी से और मुझ से उनकी घनिष्टता बढ़ रही थी। मेरा उनका सम्पर्क अपनापन का भाव प्रकट करता था। अपनी कन्या के विवाह का निमंत्रण भी उन्होंने मेरे पास भेजा था और उनके बाद भी शिवरानी जी और श्री० श्रीपतराय और श्री० अमृत राय से भी मेरा निकट सम्बन्ध रहा।

जब प्रेमचन्द जी प्रसाद स्कूल से सद्‌भाव रखने लगे तब साहित्यिक मैदान के प्रदर्शन में मैथिली शरण जी अपने ग्रुप के साथ अकेले पड़ गये। उन्हें इस कार्य में प्रेमचन्द जी का समर्थन नहीं प्राप्त हो सका। क्यों कि वैसी उनकी प्रकृति नहीं थी कि ऊपर से प्रेम दिखलाते हुए वह भीतरी मोहरों का प्रयोग करें। कंकाल की उन्होंने ऐसी खुल कर प्रशंसा की कि पढने वालों को भी प्रेमचन्द जी की उदारता पर विश्वास करना पड़ा।

प्रसाद के पास प्रचार का कोई माध्यम न था। इसीलिए जागरण का जन्म हुआ और मेरी बिगड़ी हुई आर्थिक अवस्था में अधिक समय तक जागरण अपने को दृढ न कर सका। तब वह प्रेमचन्द जी का पोष्य पुत्र बना।

भारती-भण्डार द्वारा प्रसाद की सभी कृतिया प्रकाशित हो रही थीं। रायकृष्ण दास जी की कलाविद् प्रवृत्ति ने चित्रों के संग्रह की भांति प्रसाद की पुस्तकें प्रकाशित कर हिन्दी संसार में साहित्य के प्रति लोगों की रुचि जागरित की थी। भारती-भण्डार भी प्राय: मैथिली शरण जी के आदेशों पर ही

चलता था। उनके चिरगाव के साहित्य-सदन का लक्ष्य ही राय साहब के सम्मुख था। भारत-भारती और जयद्रथ वध के व्यावसायिक लाभ ने उन्हे गुप्त जी की ओर अधिक प्रेरित किया। गुप्त जी के हस्तक्षेप ने प्रसाद जी को असन्तुष्ट कर दिया था। लेकिन वह विवश थे। वह खुद चाहते तो अपनी पुस्तकें स्वय अपनी सस्था बना कर प्रकाशित कर सकते थे, राय साहब अथवा गुप्त जी की भाति। किन्तु इस मामले में वह अपना पैसा नहीं लगाना चाहते थे।

हिन्दी पुस्तकों के व्यावसायिक पहलू ने प्रसाद को हताश कर दिया था। उनकी आरम्भिक रचनाएँ उन्हीं के पैसों से प्रकाशित हुई थीं। उनके भाजे श्री० अम्बिका प्रसाद गुप्त ने इस सम्बन्ध में बहुत कार्य किया था। मासिक 'इन्दु' और प्रसाद की छोटी-छोटी कृतिया वह प्रकाशित कर चुके थे और 'चित्राधार' के रूप में एक बडा सग्रह उपस्थित किया था। प्रसाद की जो पुस्तकें उन्होंने छापी थीं वे बिकती नहीं थी। इसलिए उन सभी छोटी पुस्तकों को—जो अलग-अलग छपी थी—एकत्र कर उन्होंने 'चित्राधार' का रूप बनाया था। चित्राधार की कुल ढाई सौ प्रतियाँ तैयार हुई थी जो अधिकाश भेंट और समालोचना में खपा दी गईं, बिकीं नहीं।

उनसे अधिक विख्यात थे। प्रसाद के नाटक रंगमंच पर खेले जाने योग्य नहीं हैं ऐसी धारणा सभी निर्देशकों की बन गई थी। इसलिए रगमंच की ख्याति मिलने पर नाटकों की बिक्री में जो सहायता मिलती वह भी प्रसाद को न मिल सकी। केवल स्वान्त सुखाय वाले प्रयोग के सिवाय और कोई मार्ग नहीं था। वह लिखते रहे और अपने पैसों से उसे प्रकाशित करा कर परिचितों में बाटते रहे। श्री० अम्बिका प्रसाद गुप्त से भी मेरी बराबर बातें हुआ करती थीं। प्रसाद ने आर्थिक सहयोग देकर उन्हें उत्साहित किया। जो पैसा प्रसाद जी का पुस्तक व्यवसाय में लगता वह फिर लौट कर उनके पास न आता। इससे प्रसाद जी ऊब उठे थे। वह अपना पैसा खोकर दो बातों से सन्तोष करते थे, एक तो अपनी पुस्तकों की छपी प्रति देख कर और दूसरे यह कि पैसा भी भाजे ही के उद्योग में व्यय हुआ। लेकिन पैसे का प्रश्न तो बाप बेटे का बटवारा कर देता है, फिर भान्जे का साथ वह कहाँ तक देते। अन्त में मैं सक्रिय साथ देने वाला उनके सम्मुख आ गया था।

मेरी असफलताओं का इतिहास भी रूखा और मनोरजन से परे है। फिर भी उसे लिख कर मैं अपने कर्त्तव्य का पालन करूँगा। भारती-भण्डार को प्रसाद की सभी पुस्तकें प्रकाशित करने का गौरव मिल रहा था। उनके असन्तोष के कारण ही पुस्तक मन्दिर की स्थापना हुई। उनके एकाकी नाटक एक घूट से ही पुस्तक प्रकाशन आरम्भ हुआ था। आँसू की पंक्तिया आरम्भ में ही सभी को मुग्ध कर चुकी थीं। सब का विश्वास था कि प्रसाद जी की प्रतिभा अब अपने चमत्कार को प्रकट कर रही है और मैं तो प्रति दिन आठ घन्टे उनके साथ रहता था इसलिए एक-एक पंक्ति सुनने का सौभाग्य मुझे मिला था। आँसू के प्रथम सस्करण की चार आने वाली प्रति साहित्य सदन चिरगाव से प्रकाशित हुई थी। शायद

राय साहब और मैथिलीशरण जी में कोई समझौता होने पर उसका प्रकाशन भारती भण्डार द्वारा नहीं हुआ था।

आँसू का प्रथम संस्करण किसी देशी कम्पनी के सूचीपत्र से अधिक आकर्षक नहीं था। प्रसाद जी को इसका हार्दिक क्लेश था। अपनी रचना को अच्छे ढंग से छपी देखने की सभी लेखकों को अभिलाषा होती है और जब वे अपनी प्रतिभा का चमत्कार प्रस्तुत कर चुके थे तो उसके लिए तो यही प्राकृत आकांक्षा होती है। प्रसाद का असन्तोष 'एक घूँट' की प्रति देख कर सन्तुष्ट हुआ। और आगे की सभी लिखी जाने वाली रचनाओं के सम्बन्ध में पुस्तक मन्दिर को प्रकाशन का सौभाग्य मिलने का वचन मिला था।

श्री कृष्णानन्द गुप्त का 'प्रसाद जी के दो नाटक' सं० १९८९ में प्रकाशित हुआ और सं० १९९३ में प्रसाद जी का 'इन्द्रजाल' कहानियों का संग्रह भारती भण्डार द्वारा प्रकाशित हुआ था। उस समय तक प्रसाद का [illegible] सफल हो रहा थी और लीडर प्रेस विक्रेता हो गया था। अन्तर द्वन्द्व [illegible] हो रहा था क्योंकि 'इन्द्रजाल' मैथिली बाबू को समर्पित हुआ था, उस पर छपा था—'प्रियवर श्री मैथिली शरण गुप्त को, उनकी चालीसवीं वर्षगांठ के अवसर पर प्रेम सहित।' प्रसाद और गुप्त जी की [illegible] प्रतिद्वन्द्विता का अन्तिम दृश्य गंगा तट पर ([illegible] घाट पर) [illegible]। इस प्रतिद्वन्द्विता के कारण हमारे हिन्दी साहित्य को एक अनन्य रत्न 'कामायनी' के रूप मिला है। प्रसाद अपनी सम्पूर्ण प्रतिभा का उपयोग कर साहित्य संसार को दिखला देना चाहते थे। [illegible] कामायनी का [illegible] नाटक-[illegible] चुके थे, [illegible] का लेख लिखा करता था। [illegible]

रचना के बाद ही कवि महाकवि माना जाता है। अतएव वह जी जान से उसी में लग गये थे।

एक ओर यह साहित्यिक द्वन्द्व चल रहा था, दूसरी ओर उनका शरीर स्वास्थ्य से द्वन्द्व कर रहा था। लेकिन वह लिखते ही रहे और अपने जीवन की बाजी लगा कर वह जीत गये कामायनी समाप्त कर। इसलिए मैं बाबू मैथिली शरण गुप्त को श्रेय देता हूँ कि साकेत के साथ ही उन्होंने कामायनी के निर्माण म भी सहयोग दिया है। भाग्यवादी विधाता की विपरीत रेखा को भी महत्त्व देता है।

'सुधा' में जब कृष्णानन्द गुप्त की आलोचना निकलने लगी तभी सनसनी फैल उठी थी कि यह कार्य जलन के कारण हो रहा है। मैं कृष्णानन्द जी को भावुक कहानी लेखक के रूप में जानता था। उनकी एक कहानी मुझे बहुत पसन्द थी।

मैंने प्रसाद जी से उसका उत्तर देने की लिए जोर दिया। उन्होंने बड़ी सावधानी से समझाया—कि उनका उत्तर देना अथवा मेरा लिखना ठीक नहीं।

चन्द्रगुप्त और स्कन्दगुप्त की आलोचनाएँ सुधा में क्रमश छपती जाती थीं और उन दिनों प्रसाद की मडली में यह भी एक गम्भीर विषय बन गया था। अन्त में दो वर्षों के बाद जब 'प्रसाद जी के दो नाटक' पुस्तक प्रकाशित हुई तब मेरे सामने उस आक्रमण के संघटित योजना का स्वरूप प्रकट हुआ।

मैं पुस्तक खरीद लाया और प्रसाद जी को मैंने उसे दिया कि इसे पढ कर मार्क कर दें। उन्होंने आवश्यक स्थलों पर पढ़ कर निशान लगा दिया था। फिर भी उस विषय पर मुझे मौन ही रहने की आज्ञा मिली। इस समय भी वही पुस्तक मेरे सामने है।

सबसे पहली बात तो यह है कि ऐतिहासिक घटनाओं और पात्रों के सम्बन्ध में प्रसाद का दृष्टिकोण ही स्वतन्त्र रहा। उनका कहना था कि वह इतिहास नहीं लिख रहे हैं। वह अपने मनोनुकूल अथवा कल्पना के आधार पर चित्रण करते थे। इतिहास सर्वस्व नहीं था, छन्दों के सम्बन्ध में भी वह स्वतन्त्र गति पसन्द करते थे।

कृष्णानन्द जी ने अपने निवेदन में लिखा है—'बहुत थोड़े में इस किताब की समालोचना की जा सकती थी। अथवा न की जाती, तो कुछ हर्ज भी नहीं था। मेरे लिये वह निमित्त-मात्र बनी है।'

इन सब बातों पर ध्यान देने पर यह पता चल जाता है कि यह आक्रमण संगठित रूप में ही था। आलोचना सुधा में निकल चुकी थी। अब उसे पुस्तकाकार करने की क्या आवश्यकता थी? कृष्णानन्द जी ने उत्साहित हो कर ही यह कार्य किया था। उन्होंने खुद लिखा था—'पूज्य द्विवेदी जी महाराज चन्द्रगुप्त-समीक्षा के प्रति आकृष्ट हुए। उन्होंने उसे सुधा में पढ़ने की परवा की। मैं कृतार्थ हुआ।'

अतएव उन्हें द्विवेदी जी का भी समर्थन प्राप्त था। दो बातों से—एक तो प्रसाद से वह खिंचे रहे और दूसरे मैथिली बाबू के प्रति स्नेह के कारण उन्होंने भी आशीर्वाद दिया।

बाबू दुलारे लाल भार्गव

स्वर्गीय रूपनारायण पाण्डेय की मित्रता के कारण प्रसाद जी 'माधुरी' में बराबर लिखते रहे। 'माधुरी' से अलग होने पर वह 'सुधा' में लिखने लगे। तब दुलारेलाल के व्यवहार से प्रसाद जी दुखित हो उठे थे। दुलारेलाल जी का विचार बदलने लगा। कृष्णानन्द जी ने उनके सम्बन्ध में लिखा था—'इस पुस्तक माला के सम्पादक, आदरणीय मित्र

श्री दुलारेलाल जी भार्गव भी मेरे निकट कृतज्ञता के योग्य हैं, जो इन दीर्घ आलोचनाओं को उन्होंने पसंद किया, अपनी पत्रिका में छापा और तदनतर पुस्तकाकार भी प्रकाशित किया।'

यह मानी बात थी कि ऐसी पुस्तक की खपत नहीं हो सकती थी। फिर भी उन्होंने उसे प्रकाशित कर अपनी मनोवृत्ति का परिचय दिया था।

पत्र-पत्रिकाओं से अपनी रचनाओं का पुरस्कार प्रसाद जी नहीं लेते थे। सद व्यवहार के नाते मुफ्त में ही पचासों लेख कविता हस्तगत करके भी भार्गव जी उनसे सन्तुष्ट न हो सके थे। उन्होंने कई पत्र प्रसाद जी के पास भेजे; किन्तु लिखना तो दूर रहा, पत्र का उत्तर भी उन्हें नहीं मिलता था, तब मेरे पास बार बार लिखते कि प्रसाद जी से कुछ भिजवाइये। मैं सब बातें जानता था इसलिए इस सम्बन्ध में मैंने भी जोर नहीं दिया; अन्त में चिढ कर उन्होंने यही निश्चय किया कि प्रसाद के लेख के स्थान पर उनकी आलोचना ही सही। दूसरी बात यह भी हुई थी कि उनका एक नाटक उन्हें पुस्तकाकार छापने के लिये नहीं मिला था।

लखनऊ में प्रदर्शनी वाले कवि सम्मेलन में मैथिली शरण जी के बहुत कहने पर भी वह प्रसाद जी को बुलाने के लिये नहीं गये और अन्त में दुखी होकर गुप्त जी भी उसमें सम्मिलित नहीं हुए थे।

'मैं इतना जानता हूँ कि इन्द्रजाल के साथ ही मैथिली शरण जी का प्रसाद के साथ सधि का समझौता होता है और वही समझौता बाबू पुरुषोत्तम दास टण्डन को लेकर बीमारी की हालत में उन्हें देखने जाता है और मंगला प्रसाद पुरस्कार की सूचना घोषित होने के पहले ही ज्ञात करा देता है।

प्रेमचन्द के दस पत्र

स्वर्गीय प्रेमचन्द जी से मेरा पत्र-व्यवहार १९२७ ई० में हुआ। उस समय मैं 'मधुकरी' का संकलन कर रहा था। कहानी लेखकों से अनेक प्रश्न पूछे थे। उत्तर में प्रेमचन्द जी ने लिखा—

माधुरी कार्यालय

(सम्पादन विभाग) ता० ८-७-२७

मेरा जन्म संवत् १९३७ में हुआ। काशी से उत्तर की ओर पांडेपुर के निकट लमही ग्राम का निवासी हूँ। क्वीन्स कालेज में अंग्रेजी पढ़ा। शिक्षा विभाग में रहा। पहले १९०० में प्रेमा लिखी, फिर उर्दू में प्रेम पच्चीसी आदि और जिल्वए इसार लिखा। सन् १६ में महात्मा शेखसादी लिखा। उसी साल सरस्वती में एक कहानी लिखी और तब से ११ साल से बराबर कुछ न कुछ लिखता आता हूँ।

माधुरी के लिए आप कुछ लिखने की कृपा क्यों नहीं करते? क्या आशा करूँ?

इस कार्ड पर उनका हस्ताक्षर नहीं है।

'माधुरी' के सम्पादन काल के समय मेरी कई कहानियाँ प्रकाशित हो चुकी थीं। प्रेमचन्द जी ने जब से 'माधुरी' के सम्पादन का भार लिया

था, वहाँ मेरे लिए कोई आकर्षण नहीं था। पांडेय जी के साथ मैं भी 'सुधा' का लेखक हो गया था। किन्तु प्रेमचन्द जी का पत्र पाने के बाद 'माधुरी' के लिए न लिखना शिष्टता के अनुकूल नहीं था। अतएव मैंने प्रसाद जी से इस सम्बन्ध में उनकी सम्मति पूछी। उन्होंने कहा भेज दो।

उस समय प्रसाद जी की रचनाओं से प्रेमचन्द जी का जो मतभेद था वह स्पष्ट नहीं हुआ था, लेकिन उनके मन में प्रसाद के प्रति कुछ खिन्नाव अवश्य था।

मैंने एक कहानी 'माधुरी' के लिए भेजी। उत्तर में प्रेमचन्द जी ने लिखा—

माधुरी आफिस

लखनऊ १५-९-२७

प्रियवर,

'मान का प्रश्न' कहानी पढ़ी। चाहता था दे दूँ। पर, कहानी उस कोटि की नहीं है जैसी मैं आपके कलम से निकालना चाहता हूँ। इसलिए वापस करता हूँ।

क्षमा कीजिये।

भवदीय,

प्रेमचन्द

मेरे जीवन काल में यही एक कहानी है जो माधुरी से वापस हुई है। कहानी प्रसाद जी को भी पसन्द थी। मैंने उनसे पूछा कि यह कारण समझ में नहीं आता कि माँग कर भी वापस किया जाय। उन्होंने गम्भीरता से कहा—'स्पष्ट है।'

मुझे इसका हार्दिक दुःख था। मैं 'माधुरी' के प्रति उदासीन हो गया।

साहित्य के लक्ष

दो वर्ष बाद 'मधुकरी' की प्रति भेजते हुए मैंने उनकी सम्मति पूछी। उत्तर में उन्होंने लिखा—

१० ९ १९२९

लखनऊ।

प्रिय व्यास जी,

वन्दे।

आपने 'मधुकरी' पर मेरी सम्मति पूछी है। संग्रह सुन्दर हुआ है और कहानियों के चुनाव में सुरुचि से काम लिया गया है। ऐसे सुन्दर संग्रह पर मैं आपको बधाई देता हूँ। मेरे और आपके साहित्यिक आदर्शों में किंचित् अन्तर है, पर यह कैसे आशा की जा सकती है कि सभी लोग एक ही तरह विचार रखते हों। यह भेद स्वाभाविक है। इससे संग्रह की सुन्दरता में कोई बाधा नहीं पड़ती। संग्रह में बनारस वालों के साथ आपने जरूरत से ज्यादा उदारता की है, पर शायद मैं संग्रह करने बैठता तो मैं भी ऐसा ही करता। मेरा 'गल्प समुच्चय' तो एक प्रकाशक के संकेत पर केवल स्कूल कक्षाओं के लिए उसी के बताये हुए लेखकों से लिया गया था। उसमें मैं उन लेखकों को कैसे ला सकता था जिनको प्रकाशक ने स्वयं अलग कर दिया था। स्कूल के लिए जटिल भाषा और भावों से छलकती हुई कहानियों की तो जरूरत न थी। वहाँ तो चरित्र का निर्माण ही प्रधान रहता है।

मेरे विचार में [illegible] के विचार में साहित्य के तीन लक्ष्य हैं— परिष्कृति, मनोरञ्जन और उद्घाटन। लेकिन मनोरञ्जन और उद्घाटन भी उसी परिष्कृति के अन्तर्गत आ जाते हैं, क्योंकि लेखक का मनोरञ्जन केवल [illegible]

या नक्लों का मनोरंजन नहीं होता, उनमें परिष्कार का भाव छिपा रहता है। उनका उद्घाटन भी परिष्कृति का उद्देश्य सामने रख कर ही होता है। हम गुप्त मनोभावों को इसलिए नहीं दरसाते कि हमें उनका दार्शनिक विवेचन करना है, बल्कि इसलिए कि हम सुन्दर को आकर्षक और असुन्दर को हेय दिखाना चाहते हैं।

क्षमा करना, क्या से क्या लिख गया।

भवदीय

धनपतराय

हाँ, संग्रह में अशुद्धियाँ बेशुमार हैं।

धनपतराय

इस पत्र के पहले उनका एक पत्र लाल स्याही में लिखा मिल चुका था।

नवल किशोर प्रेस (बुकडिपो)

लखनऊ

६-९-१९२९

प्रिय श्याम जी,

कृपा पत्र मिला। 'मधुकरी' पहले ही मिल गयी थी। संग्रह अच्छा है, कहानियों का चुनाव सुन्दर, छपाई में अशुद्धियों और विरामों का अभाव इस संग्रह की विशेषता है।

आलोचना की दो एक बातों से मैं सहमत नहीं हूँ, मगर यह कोई आक्षेप नहीं करता। आपको अपनी राय प्रकट करने में उतनी स्वाधीनता है जितनी मुझे या दूसरे को है।

मवदीय

इन दोनों पत्रों के उत्तर में मैंने उन्हें जो पत्र लिखा था उसकी नकल भी इन पत्रों के साथ लगी मिली है। इन पत्रों के महत्त्वपूर्ण होने के कारण ही अपने पत्रों की नकल भी नत्थी करना मैंने उस समय उचित समझा था।

काशी
१६-९-२९

श्रीमन्

वन्दे !

आपके दोनों पत्र मिले। 'मधुकरी' पर दो तरह की सम्मतियों के लिए धन्यवाद !

'मेरे आपके साहित्यिक आदर्शों में किंचित् अन्तर है' यह कुछ समझ न पाया।

आलोचना की कौन सी दो एक बातों से आप सहमत नहीं हैं उत्तर की प्रतीक्षा में हूँ। विशेष कृपा।

सदैव आपका,
विनोदशंकर व्यास

सद्भावना का प्रारंभ

बनाये गये। वर्मा जी के प्रयत्न से सरस्वती प्रेस फिर चालू हुआ। श्री रायकृष्णदास जी के अस्तबल में यह अनुष्ठान आरम्भ हुआ। प्रवासी लाल जी प्रसाद मण्डली में प्राय प्रतिदिन आते थे। घटों बैठते और साथ ही उठते थे। प्रसाद जी से अधिक उनका ससर्ग मुझसे था, क्योंकि पुस्तक-प्रकाशन की मेरी योजना कार्य रूप में परिणत हो रही थी। उनके प्रेस की खुराक के लिए ज्यादातर व्यवस्था मुझे ही करनी पड़ती थी।

प्रसाद जी की 'हावी' यानी पत्र-पत्रिका निकालने वाली रुचि में वर्मा जी जैसे एक व्यक्ति की आवश्यकता थी। साइज क्या होगा? कागज कितना लगेगा? और टाइप? वार्षिक? प्रति अक कितना छपेगा? आदि अगणित प्रश्नों से मैं ऊब उठता था लेकिन प्रसाद जी प्रवासी लाल जी की पीठ ठोंकते ही जाते थे। 'हस' का नामकरण प्रसाद जी ने किया। प्रवासी लाल ने सरस्वती प्रेस से उसके प्रकाशन की व्यवस्था की। यह एकदम सत्य है कि 'हस' की योजना एक मात्र प्रवासी लाल ही की थी जिसे प्रेमचन्द जी ने भी बाद में स्वीकार कर लिया था। काशी से एक साहित्यिक पत्र की अत्यन्त आवश्यकता थी। जिस पत्र को प्रसाद और प्रेमचन्द दोनों का सहयोग प्राप्त हो उसके अकाल ग्रस्त हो जाने की शका लोगों में न होगी क्योंकि काशी से अनेकों उदाहरण ऐसे लोगों को मिल चुके थे।

'हस' ही एक ऐसी कड़ी थी जो प्रसाद और प्रेमचन्द को एक साथ जोड़ती है और यहीं से सद्भावना जागरित होती है। विगत पर खेद प्रकट कर प्रेमचन्द जी प्रसाद जी से हाथ मिलाते हैं, नारियल बाजार की दूकान पर बैठ कर ताक-धिना-धिन का स्वर सुनते हैं।

मैं प्रवेश द्वार का सतरी था। अतएव मेरी प्रसन्नता और अप्रसन्नता का प्रश्न भी सम्मुख आया। देखिये।

कहानी : जीवन की समस्या

हंस कार्यालय
सरस्वती प्रेस

प्रेमचन्द जी के इसी पत्र के साथ अथवा 'हंस' के प्रथम अक के साथ ही हम लोगों का आपस में मतभेद समाप्त होता है। मेरी जिन कहानियों के सम्बन्ध में उन्होंने लिखा है कि अवश्य वे जीवन से ली गयी हैं उनका प्रकाशन पहले ही हो चुका था, किन्तु मेरे दुर्भाग्य से उन पर प्रेमचन्द जी की दृष्टि नहीं पड़ी थी। अब चाहे वे जैसी भी हों मैं अपने ही रग में लिखूँ।

'हंस' को प्रसाद-मण्डली का पूरा सहयोग मिला। मैंने अपनी एक कहानी प्रथम अक के लिए दे दी। उस सम्बन्ध में प्रेमचन्द जी ने लिखा—

अमीनाबाद पार्क
लखनऊ
२७-३-३०

प्रिय विनोद जी,

'हंस' तो आपने देखा ही होगा। आपकी कहानी मुझे प्यारी लगी। यहाँ औरों ने भी उसे खूब पसन्द किया। अब दूसरे नम्बर के लिए भी लिखिये।

'भूली बात' तो मैंने राजेश्वरी से लेकर पढ़ ली थी। आपकी भाषा में चोट होती है और चित्र कुछ ऐसे 'एलूसिव' होते हैं मानों स्वप्न चित्र हों और इसीलिए उनमें रोमानी झलक होती है। पहली कहानी मुझे बहुत अच्छी मालूम हुई। पर 'हंस' वाली चीज मुझे सबसे अच्छी जची।

शुभाकांक्षी
धनपतराय

सरल प्रेमचन्द जी

अब सरस्वती प्रेस का कार्य व्यवस्थित रूप से चलने लगा था। मेरे

लखनऊ छोड़कर बनारस आ गये। अब प्राय उनसे भेंट हो जाती थी हम दोनों बातें करते प्रेस से उठते थे। कभी वे मैदागिन की चौमुहानी से कबीरचौरा वाली सड़क से घर चले जाते, कभी कुछ सामान खरीदने मेरे साथ चौक तक चले आते।

साहित्य सम्बन्धी अगणित प्रश्नों का हल हुआ। बहुतेरे समय के साथ स्मृतिपट से लुप्त हो गये। लेकिन यह स्मरण है कि उन दिनों प्रेमचन्द जी बहुत सरल प्रतीत हुए और उनकी वह हँसी सचमुच बड़ी प्यारी लगती थी। वह हँसी चिरंजीवी अमृतराय में देखकर मैं प्रसन्न होता हूँ कि प्रेमचन्द वास्तव में भाग्यशाली थे कि उनको अमृत जैसा पुत्र प्राप्त हुआ।

जागरण की कहानी

'हंस' आफिस
सरस्वती प्रेस, बनारस
ता० १० ७ १९३०

उसी दिन मैंने एक पत्र प्रेमचन्द जी के पास भेजा था उसी का उत्तर यह था। मैं अपने पत्र को भी प्रकाशित कर रहा हूँ।

'जागरण'
पुस्तक मन्दिर, काशी
१९ ७ १९३२

आदरणीय प्रेमचन्द जी,

मैं आपके उत्तर की प्रतीक्षा में बैठा हूँ। शेयर होल्डर वाला 'प्लैन' ठीक नहीं है। 'जागरण' के सम्बन्ध में अपने विचारों को मैं आप के सम्मुख प्रकट कर चुका हूँ। मैं उसी पर अटल हूँ।

मेरी हार्दिक इच्छा यही है कि आप उसे प्रकाशित करें। यदि आप पूर्ण रूप से निश्चय कर चुके हों तो कृपया निश्चित उत्तर दीजिये। साथ ही यह भी लिखिये कि आप अधिक से अधिक किस तारीख तक निकालेंगे। इसकी सूचना पत्र में दे देना अत्यन्त आवश्यक है।

मेरा 'टर्म' केवल इतना ही होगा कि पत्र जब तक चाहें आप निकालते रहें उसके हानि-लाभ से मेरा कोई सम्बन्ध न होगा। लेकिन जब किसी कारण से आप स्वयं उसे बन्द करना चाहेंगे (भगवान् न करे ऐसा कभी हो) तो मुझे अधिकार होगा कि मैं उसके प्रकाशन की व्यवस्था करूं।

मैं समझता हूँ इसमें आपको कोई आपत्ति न होगी। साथ ही जितने ग्राहक हैं उनके पास आप पत्र भेजते रहेंगे।

विज्ञापन स्लिप करने की कभी आवश्यकता मुझे होगी तो मैं छपाकर दे दूंगा।

कृपाकर आज ही सूचना मुझे दीजिये। आपके उत्तर पर ही 'जागरण' के जीवन मरण का निर्णय होगा और हर हालत में पत्र में कल

अन्तिम सूचना प्रकाशित हो जायगी ।

मैं उत्तर की प्रतीक्षा में बैठा हूँ ।

—विनोद

पाक्षिक जागरण के अन्तिम अंक (१७ जुलाई, १९३२ ईसवी) में भाई शिवपूजन ने 'परिवर्तन' शीर्षक सम्पादकीय में कितना दर्द उत्पन्न किया था यह पढ़कर पाठक स्वयं अनुभव कर लें। साथ ही क्षण भर में रोते समय हँसाने का प्रयत्न करना कितनी कुशल लेखनी का कार्य है और इन सब मैटर के मध्य में प्रसाद जी का वह अमर गीत 'वे कुछ दिन कितने सुन्दर थे' कितना कारुणिक है जिसे पढ़कर आज भी आँखें सजल हो उठती हैं ।

परिवर्तन

'जिमि नूतन पट पहिरि के, नर परिहरै पुरान' उसी प्रकार 'जागरण' अब जगन्नियन्ता परमात्मा की इच्छा के अनुसार साप्ताहिक रूप में परिवर्तित होने जा रहा है। अब इसके सम्पादक होंगे, हिन्दी के सर्वमान्य उपन्यासकार श्री प्रेमचन्द जी और प्रकाशक होंगे मुद्रण कला कुशल श्री प्रवासीलाल वर्मा ।

आशा है, दो यशस्वी कलाकारों के हाथ में रहकर यह विशेष सुन्दर, समुन्नत और सुविख्यात होगा । इसका साप्ताहिक संस्करण आगामी मास में स्थानीय सरस्वती प्रेस से जहाँ से हंस मासिक पत्र भी

साप्ताहिक रूप में कर सकेगा। 'उपजहिं अनत, अनत छवि लहहीं।' अब, जो कृपालु सज्जन छ महीने के ग्राहक बने थे उनकी सेवाकी अवधि पूरी हो गयी, किन्तु सालभर के ग्राहकों की सेवा में साप्ताहिक 'जागरण' नियमित रूप से पहुँचता रहेगा ऐसी व्यवस्था कर दी गयी है। अब दोनों प्रकार के ग्राहकों से हम विनय पूर्वक प्रार्थना करते हैं कि वे दया करके शुद्ध हृदय से हमारी भूल-चूक क्षमा करें। हम हाथ जोड़कर उनसे अन्तिम विदा मागते हैं, क्यों कि अब हमें उनकी सेवा का ऐसा सौभाग्य कभी प्राप्त न होगा। पुन. जिन उदार लेखकों और सहृदय कवियों की कृपा तथा सहानुभूतिपूर्ण सहायता से हम हिंदी पाठकों की कुछ सेवा कर सके हैं, उनके प्रति हम अपनी विशुद्ध आन्तरिक कृतज्ञता प्रकट करते हैं और उनसे भी कर्तव्यज्ञानशून्यता के कारण किये गये निज अपराधों के लिए सच्ची क्षमा चाहते हैं। विश्वास है हमारे वे सहयोगी भी, जिनके द्वारा प्रभूत प्रोत्साह प्राप्त कर हम कृतकृत्य होते रहे, हमारी क्षमायाचना को सफल करेंगे। 'पुस्तक मंदिर' और 'जागरण' के संस्थापक प० विनोदशकर व्यास तथा दोनों के सचालक पं० प्रमोदशंकर व्यास हमारी सहायता में जैसे तत्पर रहे, वैसे सहायक अब काहे को मिलेंगे। हमारा दुर्भाग्य ही है कि आज ऐसे सहायकों से वञ्चित होना पड़ता है। सन्तोष है कि 'जागरण' सौभाग्यशाली ही रहा। ईश्वर उसे चिरायुष्य प्रदान करें।

पाक्षिक 'जागरण' का जो रूप-रंग था, उसे सभी साहित्यिकों और सहयोगियों ने तो पसन्द किया, पर साधारण पाठकों ने उसे कैसा समझा यह जानने का हमें विशेष अवसर न मिला। अब तक की स्थिति ने तो यही सुझाया कि शुद्ध साहित्यिक पाक्षिक पत्र के पाठक हिन्दी संसार में गिने-चुने हैं। ईश्वर हिंदी पाठकों की रुचि को परिष्कृत करे कि 'जागरण' फिर अपने असली रूप को धारण करने में समर्थ हो।

क्षण भर

जिन उदार चरित्र लेखकों के लेख प्रकाशित होने से रह गए, वे अब दया करके हमारा पिंड छोड़ें, प्रेमचन्द जी का पिंड पकड़ें, हमने उन्हीं को सब कुछ सौंप दिया है।

लेकिन कवियों की कविताओं को हम कदापि न लौटाएँगे, क्योंकि उनकी संख्या इतनी अधिक है कि हम किसी तरह यह खजाना 'गबन' के नायक की नहीं खपा सकते।

कलकत्ते से एक साहित्यिक मित्र लिखते हैं कि हिन्दी संसार के सुपरिचित नवयुवक पं० शान्तिप्रिय द्विवेदी आजकल बनारसीदास चतुर्वेदी के साथ हाथरस की सैर करने गए हैं। वहाँ से वे लोग मैनपुरी जिले के मक्खनपुर स्थान पर जा कर प्रसिद्ध [illegible] पं० [illegible] शर्मा जी की बगिया में [illegible] पपीते का [illegible], जिसमें [illegible] का [illegible] लगा है। और यहाँ [illegible] सुना [illegible] रायकृष्णदास ने तार दिया है [illegible] उस पपीते का [illegible]।

अब साप्ताहिक जागरण (२२ अगस्त; १९३२ ईसवी) के प्रथम अंक में प्रेमचन्द जी का लिखा 'जागरण का नया रूप' शीर्षक सम्पादकीय अग्रलेख का कुछ अंश यहाँ देना मैं आवश्यक समझता हूँ।

'जागरण' ने साहित्यिक पत्र के रूप में जन्म लिया था और अपनी बाल्यावस्था के बारह अंक पूरे करके अब वह एक विस्तृत क्षेत्र में आता है। उसका जन्म अच्छे कुल में हुआ, उसका लालन-पालन भी सुयोग्य हाथों में हुआ। परखने वाले परख गये कि यह बालक होनहार है, पर साहित्य के परिमित क्षेत्र में उसका विकास जैसा होना चाहिये वैसा न हो सकता था। हाथ-पाँव मारने वाला बालक पालने में कैसे रहता, इसलिए उसके जन्मदाताओं को ऐसे अभिभावक की जरूरत पड़ी, जो जरा निष्ठुर हाथों से उसकी गोशमाली कर दिया करे, जो ममता भरे माखन और मिश्री की जगह सूखे चने और रूखी रोटियाँ खिलाये, क्योंकि संसार पहले चाहे लाड़ प्यार में पले बालकों को बढ़ने का अवसर देता हो, अब तो समय उनके अनुकूल नहीं रहा। आज संसार में वही बालक बाजी ले जाते हैं, जिन्होंने बालपन में कड़ियाँ झेली हों, धक्के खाये हों, भूखे सोये हों, जाड़ों में ठिठुरे हों। गमले का पौधा धूप और वर्षा का सामना क्या करेगा! वह चट्टान पर उगा हुआ पौधा ही है, जो जेठ की जलती लू, माघ के तीखे तुषार और भादों की मूसलाधार वर्षा में डटा खड़ा रहता है और फलता-फूलता है। हमारे ऊपर इन्तख़ाब की निगाह पड़ी। हम कह नहीं सकते कि हम क्यों इस काम के लिए चुने गये। हम इस काम में कुछ बहुत अभ्यस्त नहीं हैं। अभी तक केवल एक चिड़िया पाली है, पर उसे भी कई बार संकट में डाल चुके हैं। शिकारियों के दो निशाने उसपर लग चुके हैं।

ख़ैर, हम अभिभावक की कला में कुशल नहीं हैं, फिर भी जागरण का

भार हमारे ऊपर रखा गया। हम अपनी त्रुटियों को खूब समझते हैं। चुलबुले बालकों का सँभालना कितना कठिन है, इसे वही लोग जानते हैं, जिन्हें इसका तजरबा हो, लेकिन भाई, ईमान की बात यह है कि मिलता हुआ बालक किससे छोड़ा जाता है। हमने सोचा, चलो इसी के साथ अपनी तकदीर आजमाओ, कौन जाने तुम्हारे ही हाथों इसको उगरार लानेका जस बदा हो। दुनिया हमें इसका बाप न कहे, बाप कहलाने का गर्व किसे नहीं होता। कम से कम इतना तो स्वीकार करेंगे ही कि हमने इसे समाज का एक उपयोगी व्यक्ति बना दिया। यह हमें कोई न बताये कि इसके हाथों हमें पिंडा पानी न पहुँचेगा। हम इतने धर्म ज्ञान ग्रहण नहीं हैं, पर हमारा पिंडा पानी में विश्वास नहीं है। हम तो यही डर रहे हैं कि हमारे सिर कलंक न लग जाय कि लेकर लड़के को चौपट कर दिया। यश इस जमाने में किसे मिलता है? अपयश न मिले यही बहुत है।

जागरण के उद्देश्य पर प्रकाश

इसी लेख में 'जागरण' के उद्देश्य और आदर्श पर प्रेमचन्द जी ने प्रकाश डाला है। काशी जैसे साहित्य और संस्कृति के प्रधान केन्द्र में अब भी हिन्दी का साप्ताहिक पत्र न हो इस सम्बन्ध में वह खेद प्रकट करते हैं। वह लिखते हैं—

यही कलम हाथ में और राष्ट्र हित का भाव हृदय में, सहयोगियों और विद्वानों की सहायता की आशा मन में लेकर हम इस क्षेत्र में आये हैं। यह बेड़ा पार होगा या नहीं, ईश्वर जाने। हमारे पास न [illegible] है, न अनुभव और [illegible] तो हमारा [illegible] है।

हिन्दी पत्र-जगत में स्वागत

हिन्दी के पत्र जगत ने 'जागरण' का स्वागत दिल [illegible] किया।

थोड़े ही समय में 'जागरण' का सम्मान और महत्व सब की समझ में आने लगा और श्री प्रवासीलाल के इस विज्ञापन पर भी कि 'जागरण' के चार ग्राहक बनाइये और ३ रुपये नक़द लीजिये या सालभर तक 'जागरण' प्राप्त कीजिये, सफलता बहुत कम मिली और एक हजार से अधिक वह न छप सका।

२८ मई, सन् १९३४ (वर्ष दो, अंक चालीस तक)

हिन्दी का यह साप्ताहिक उपन्यास सम्राट् प्रेमचन्द जी और मुद्रणकला के आचार्य श्री प्रवासीलाल वर्मा चलाते रहे। अर्थाभाव के कारण सब ओर अव्यवस्थित क्रम रहा था। प्रेमचन्द जी घबड़ा उठे थे। इधर बाल बच्चे और घर का किराया और उधर प्रेस की झंझट। वह थककर विश्राम करना चाहते थे। 'जागरण'को काशी के दो महान् विद्वानों को सौंपकर वह अलग हो गये। जागरण की नयी व्यवस्था हुई।

'जागरण' की नयी व्यवस्था स्वर्गीय प्रेमचन्द जी के शब्दों में यह थी—

गत सप्ताह में हमने पाठकों से निवेदन किया था कि जागरण को अपने आदर्शानुकूल न निकाल सकने के कारण हम उसका प्रकाशन उतने दिनों के लिए स्थगित कर रहे हैं, जब तक हमारे पास ऐसे साधन न हो जाय कि हम उसे इससे अच्छे रूप म निकाल सकें। हमारे इस निवेदन का आशय यह समझा गया कि हम जागरण को सदैव के लिए बन्द कर रहे हैं, और पाठकों तथा मित्रों ने 'जागरण' को एक सप्ताह की समाधि की अवस्था में रहने देना स्वीकार न किया। चारों ओर से पत्र आने लगे कि 'जागरण' किसी दशा में बन्द न होना चाहिये। संयोग से इसी अवसर पर कुछ ऐसे साधन भी प्राप्त हो गये, जिनके सहयोग से हमें विश्वास है, 'जागरण' इससे अच्छे रूप में निकलकर जनता की सेवा

कर सकेगा। हम बड़े हर्ष के साथ निवेदन करते हैं कि जागरण के सम्पादन का भार श्री सम्पूर्णानन्द जी ने लेना स्वीकार कर लिया है और अगले अंक से 'जागरण' उन्हीं के सम्पादन में निकलेगा।

श्री सम्पूर्णानन्द जी के विषय में हमें कुछ कहने की जरूरत नहीं। राजनीति और साहित्य दोनों ही क्षेत्रों में उन्होंने अमर कीर्ति प्राप्त की है, और जिस त्याग, लगन और साहस से उन्होंने राष्ट्र की सदैव सेवा की है, वह हमारे लिए गर्व की वस्तु है। ऐसे अनुभवी विद्वान् और प्रतिभाशाली सज्जन के हाथों में जागरण का भविष्य निश्चित है। हमें आशा है, हमारे साहित्यिक सहयोगियों और पाठकों ने जागरण पर जो कृपादृष्टि रखी है, वह पूर्ववत् बनाये रखेंगे। जागरण अब कहीं सुयोग्य हाथों में जा रहा है। इस पर हम उसे बधाई देते हैं।

सम्पूर्णानन्द जी के सम्पादन में

साप्ताहिक 'जागरण' (तारीख ८ जन, १९३४ ईसवी) के अंक में श्री सम्पूर्णानन्द ने 'नयी व्यवस्था' के सम्बन्ध में लिखा—

यही शीर्षक देकर जागरण के पिछले अंक में श्री प्रेमचन्द जी ने यह सूचित किया था कि कुछ दिनों के लिए पत्र का संपादन भार मुझ को सौंप रहे हैं। भार तो मैंने ले लिया है, पर यह मेरे लिये सुगम नहीं है। हिन्दी के साहित्यिक जगत में जागरण का एक विशेष स्थान है। उसको कायम रखना कुछ [illegible] है। इस काम को सुचारु रूप से वही व्यक्ति कर सकता है जिसे न केवल हिन्दी के प्राचीन तथा आधुनिक वाङ्मय और उसकी प्रगति का पूरा ज्ञान हो वरन साहित्यिकों से जिसका [illegible] [illegible] दें। [illegible] इन दोनों [illegible] का अभाव है। इतना ही नहीं, [illegible] [illegible] आदि [illegible] मेरी कुछ

ऐसी सम्मतिया, स्यात् खस्त हैं, जिनके कारण कृतियों की आलोचना में, जो ऐसे पत्र के सम्पादक का मुख्य कार्य है, मुझे बड़ी कठिनाई पड़ती है। परन्तु मुझे आशा है कि जो विद्वान् लेखक और कवि अब तक जागरण की सहायता करते रहे हैं, वह अब भी उसके साथ पूर्ववत सहयोग करते रहेंगे। उनकी इस कृपा से ही मेरा भार कुछ हल्का हो सकता है और 'जागरण' उस उन्नत पद को प्राप्त कर सकता है जो उसके सभी हितैषियों को अभीष्ट है।

राजनीतिक सिद्धान्त पर उन्होंने स्पष्ट लिखा है—जगत् की वर्तमान अवस्था एक मूल प्रश्न है जिसका उत्तर वैज्ञानिक साम्यवाद ही दे सकता है। साम्यवाद क्रमिक नहीं क्रान्तिमूलक है। उसी के द्वारा उस रोग का उपशम हो सकता है जो आज मनुष्य-समाज को नष्ट करने पर तुला देख पड़ता है। जागरण इस वैज्ञानिक साम्यवाद के सिद्धान्तों का प्रचार करना अपना कर्तव्य समझता है।

लेख के अन्त में श्री सम्पूर्णानन्द अपनी स्थिति प्रकट करते हैं—

यह भी निश्चित नहीं है कि मेरे जैसे व्यक्ति, जिसके जीवन का क्रियात्मक राजनीति से सम्बन्ध रहा, कब तक सम्पादन का काम कर सकेगा, परन्तु यदि इस बीच में 'जागरण' देश के और मनुष्य-समाज के अभ्युदय में कुछ भी सहायता दे सका तो मैं अपने को कृतकृत्य मानूंगा।

ऊपर जो कुछ विचार सम्पूर्णानन्द जी ने प्रकट किया है उससे यही झलकता है कि सुयोग्य हाथों में जाकर भी 'जागरण' के भविष्य का कोई निश्चित रूप नहीं है।

जागरण सम्बन्धी पत्र व्यवहार

प्रेमचन्द जी को अपने निष्ठुर हाथों से गोशमाली करने का विश्वास था। वह रूखी रोटिया खिलाकर भी 'जागरण' को जीवनदान न दे सके

और 'समाधि' और 'मरण' की व्याख्या करने लगे। अपनी ओर से कुछ न कहकर उस समय के अपने और उनके पत्रव्यवहार को मैं सम्मुख रखता हूँ।

हंस आफिस
२१–५–१९३४

प्रिय विनोद जी,

पत्र मिला। मैंने 'जागरण' बन्द नहीं किया है और न करूँगा। स्थगित किया है। समाधि के बाद वह पुनः जीवन लाभ करके उठेगा और इससे अच्छे रूपमें निकलेगा। कब तक वह शुभ मुहूर्त आयेगा यह मैं नहीं बता सकता। रुपये जब जमा हो जायँगे तब निकलेगा। मैं बम्बई जा रहा हूँ। जब मैं 'जागरण' को सदा के लिए बन्द कर दूँगा तब आप [illegible] उठा ले जाइयेगा। समाधि तो मौत नहीं।

—धनपत राय

उस दिन मैं अत्यन्त व्यग्र हो उठा था। 'जागरण' का अन्त हम लोग अपनी आँखों से नहीं देखना चाहते थे।

यह ठीक है कि पत्र अब जल्दी ही 'सेल्फ सपोर्टिंग' हो जाता। मैंने 'जागरण' आपके हाथों में देते हुए अपनी एक प्रार्थना आप से स्वीकार करा ली थी। कभी 'जागरण' आप बन्द करें तो मैं ही उसकी व्यवस्था करूँगा। क्योंकि 'जागरण' से मुझे भी कोई व्यावसायिक लाभ की सम्भावना न थी और न है। मेरा उद्देश्य केवल साहित्य सेवा का ही है। मैं किसी तरह भी यह नहीं देख सकता कि 'जागरण' का अन्त हो।

अनिश्चित काल के लिए बन्द करने के पहले आपको मुझे सूचना दे देनी थी, क्योंकि पत्र आप के बन्द करने के पहले मुझे अधिकार है कि मैं उसके प्रकाशन की दूसरी व्यवस्था करूँ।

'अनिश्चित काल' से कुछ समझ नहीं पड़ता और मेरे आपके 'टर्म' के अनुसार यह सर्वथा अनुचित है।

कृपा करके आप मुझे आज्ञा दें कि मैं उसका नया प्रबन्ध करूँ अथवा उसे बन्द ही कर दूँ। यह अधिकार मुझे है आप को नहीं।

उत्तर की प्रतीक्षा में हूँ।   —वि०

प्रेमचन्द जी ने कापी के एक रूलदार पन्ने पर जो पत्र लिखा है जल्दी में उस पर तारीख भी नहीं है, उसनें उनके मनोभाव खुल उठे हैं। पढ़िये—

प्रिय विनोदशंकर जी,

पत्र मिला। जागरण के बन्द करने का कारण मेरे यहाँ भी वही था जो आप के यहाँ था। आप ने ६ महीने में ज्यादा से ज्यादा एक हजार नुकसान उठाया। मैं ४ हजार के लपेट में आ गया। आप ने जो लम्बे-चौड़े वादे किये थे वह आपने एक भी पूरे नहीं किये। मैं आपके चक्कर में आ गया। खैर, आप तो जागरण को बन्द कर चुके थे उसे मैंने फिर चलाया। आपने १०० ग्राहक दिये थे। वह सब टूट गये। मेरे

लिए उस नाम से कोई विशेष लाभ क्या बिलकुल ही नहीं हुआ। मैंने इस पर चार हजार का घाटा उठाया है और इसे फिर निकालूगा, खुद या किसी के साझे में। आप साझा करना चाहे तो कर सकते हैं। आप बिलकुल इसे लेना चाहते हैं तो मुझे ४ हजार नकदी दे दीजिये या २०) महीने का प्रबन्ध कीजिये। वरना कुछ दिन इन्तजार कीजिये और देखिये कि मैं इसे निकालता हूँ या नहीं। बहरहाल मुझे इसको अपने हाथ में रखकर या किसी के साझे में निकालने का पूरा अख्तियार है। आप साझा करें। शौक से आइये। लेकिन यह नहीं हो सकता कि मैं [illegible] साल का परिश्रम और ४ हजार का घाटा यों ही निकल जाने दूँ। आइये आपने जो घाटा दिया है और मैंने जो घाटा दिया है उसका हिसाब लगाकर उस घाटे के परते से 'जागरण' पर हमारा और आपका हिस्सा हो जाय। आगे के लिए आप भी धन निकालें और मैं भी निकालूँ। फिर हम अच्छे रूप में चलाऊँ। आप खुद न चाहें तो न कीजिये। मेरी तरफ से प्रवासीलाल जी काम [illegible]। हाँ, अगर आप खुद निकालना चाहें तो आप क्या यह उचित [illegible] और घाटे का मुझे कुछ बदला मिलना [illegible]

उसी दिन उनके नाम दो पत्र मैंने लिखे थे उसे पढ़ने से मेरी स्थिति का परिचय मिलता है।

आदरणीय प्रेमचन्दजी,

आपका कृपा पत्र मिला। 'जागरण' में मेरा १ हजार का घाटा हुआ या चार हजार का अथवा आप के एक गये या चार इससे मुझे और आप को दोनों को ही कुछ लेना देना नहीं है। आप ने लिखा है कि 'आप ने बड़े लवे चौडे वादे किये थे वह आप ने एक भी पूरे न किये। मैं आप के चकमे में आ गया।' यह कहां तक सत्य है, आप ही विचार कीजिये। मेरा तो यह विश्वास है कि आप मुझ से किसी तरह का सहयोग लेना ही नही चाहते थे।

आप जैसे कुशल कलाकारों की लेखनी से चकमा शब्द शोभा नहीं देता। मैंने आप को 'जागरण' दिया और आप ने उसे निकाला। मैंने स्पष्ट शब्दों में प्रारम्भ में ही आप को लिखा था कि मेरा टर्म केवल इतना ही होगा कि पत्र जब तक चाहें निकालते रहें। उसकी हानि-लाभ से मेरा कोई सम्बन्ध न होगा। लेकिन जब किसी कारण से आप उसे बन्द करना चाहेंगे (भगवान न करे ऐसा कभी हो) तो मुझे अधिकार होगा कि मैं उसके प्रकाशन की व्यवस्था करूँ।

आप ने १९-७-१९३२ के पत्र में उन 'टर्म' को स्वीकार करते हुए लिखा है कि आप की शर्त पर मुझे कोई आपत्ति नहीं कि यदि मैं पत्र बन्द करूँ तो आप उसे निकालें।

आप ने यह टर्म स्वीकार करते हुए भी 'जागरण' के बन्द करने की सूचना निकालने के पहले मुझ से केवल पूछना तक उचित नहीं समझा और अनिश्चित काल के लिए 'जागरण' बन्द कर दिया गया।

अब आप लिखते हैं कि 'लेकिन यह नहीं हो सकता कि मैं दो साल का परिश्रम और ४ हजार का घाटा यों ही जाने दूँ।'

इन बातों को एक साधारण आदमी भी भली-भांति समझ सकता है और आप तो महारथियों में हैं आप को कौन समझा सकता है। आप ही विचार कीजिये कि आप कहाँ तक न्याय कर रहे हैं। रही साझे की बात वह इस जीवन में न मैंने किसी से की है और न करूँगा। आदरणीय प्रसाद जी की उस 'स्कीम' पर—कि पुस्तक मन्दिर, सरस्वती प्रेस और भारती भण्डार मिला दिया जाय—मैं सहमत नहीं हुआ तो अब साझा करना असम्भव है।

मैं विशेष कुछ न लिखकर एक बार फिर से आप से अनुरोध करता हूँ कि इस सम्बन्ध में आप अपना निश्चित उत्तर स्पष्ट शब्दों में दें।

मैं उत्तर की प्रतीक्षा में हूँ। विनोद

२२-५-३४ दोपहर

उन्हीं के समय में जागरण की जीवनलीला तीसरे वर्ष की प्रथम संख्या के साथ समाप्त हुई। विवश होकर पश्चात्ताप ही मेरे हाथ लगा।

बम्बई जाकर मुंशी कन्हैयालाल जी के सहयोग से प्रेमचन्द जी ने एक योजना बनायी। एक लिमिटेड कम्पनी द्वारा 'हंस' का प्रकाशन आरम्भ हुआ। सुना तीन हजार 'हंस' के गुडविल का लेकर प्रेमचन्द जी उसके साझीदार बने। इसी तरह की कोई योजना वह 'जागरण' के सम्बन्ध में भी सोचते रहे, लेकिन संयोग बैठा नहीं।

आश्चर्य तो तब हुआ जब प्रेस के कर्मचारियों ने हड़ताल की और उसके जवाब में उन्होंने अपना वक्तव्य ३ अक्तूबर, १९३४ के 'दैनिक भारत' में प्रकाशित किया। इस ढाई कालम के मैटर को पढ़ने के बाद सब बातें स्पष्ट हो जाती हैं।

'सरस्वती प्रेस' के प्रोप्राइटर होने के नाते हड़ताल की कितनी जिम्मेदारी उन पर आती है इसे स्पष्ट करना आवश्यक है लिखते हुए वह अपने घाटे का ब्यौरा देते हैं। उस समय तक चार हजार का प्रेस के ऊपर ऋण हो गया था जिसमें कर्मचारियों का वेतन और कागज वालों का बकाया दोनों शामिल था। वह लिखते हैं—

'फिर भी मैंने हिम्मत नहीं छोड़ी और जब अपनी बिगड़ी आर्थिक दशा से तंग आकर मैं काशी से चलने लगा तो मैंने 'जागरण' का सम्पादन भार बाबू सम्पूर्णानन्द को सौंपा जिसे उन्होंने सहृदयता से स्वीकार किया। मगर घाटा बराबर होता रहा।

प्रेस, पुस्तक और अपनी मजदूरी का विवरण देते हुए उन्होंने लिखा था—'ऐसी दशा में प्रेस कर्मचारियों और कागज वालों दोनों से ही मुझे मजबूरन वादा खिलाफी करनी पड़ी। मुझे ऐसी दशा में 'जागरण' को अवश्य बन्द कर देना चाहिये था।'

'लेकिन बन्द करने पर वह अपना घाटा कैसे पूरा कर सकते थे। अन्त में हड़ताल के कारण प्रेस बन्द हुआ और प्रेस के साथ जागरण भी।

वह फिर लिखते हैं—

'इस झमेले में जागरण बन्द हो गया। जिन मजदूरों के लिए वह सैकड़ों का माहवार घाटा सह रहा था जब उन्हीं मजदूरों को उस पर दया नहीं आती तो फिर उसका बन्द हो जाना ही अच्छा था।'

और इसी लिए 'समाधि' और 'शव' का निर्णय मैं नहीं कर सका।

मैथिलीशरण गुप्त

अपनी १६ वर्ष की अवस्था में मैं इस नाम की ओर आकर्षित हुआ था। कविता बनाने की अभिलाषा थी। ब्रजभाषा के बहुत से कवित्त कंठस्थ हो गये थे, किन्तु खड़ी बोली की तरफ झुकाव था। मैथिलीशरण जी की कविता मुझे इसलिए पसन्द थी कि सीधी-सादी भाषा के कारण उन्हें समझ लेना सरल था।

प्रसाद जी के निकट आने पर उनसे भी मेरा परिचय हुआ और फिर जब कभी वह काशी आते प्राय उनका दर्शन हो जाता था। वह मेरे कार्यों पर दिलचस्पी रखते थे और उत्साहित भी करते थे। प्रकाशित होने पर अपनी नवीन पुस्तक भी भेजते थे।

मेरी स्वच्छन्द बातें उन्हें प्रिय नहीं लगती थीं, यह मैं उनकी आँखों से ताड़ जाता था, किन्तु उसके लिए खुल कर कभी उन्होंने कुछ नहीं कहा, और कह भी नहीं सकते थे। प्रसाद के साथ रह कर भी उस बनावटी शिष्टता की चादर लपेट कर मैं बगल में दबा लेता था। जिसके कारण प्रसाद के सभी परिचित और घनिष्ट मेरी ओर गूढ़ दृष्टि से देख कर मौन हो जाते थे।

गुप्त जी के स्वभाव का अध्ययन करने का मुझे अवसर मिला है। घन्टों मडली में बैठ कर अपने तर्कों मे मैं छेड़छाड़ करता रहा हूँ। प्रसाद और वह जब भी मिले अभिन्न रूप से उनकी बातें हुईं। देखने वाला स्वप्न मे उन दोनों के परस्पर व्यवहार में किसी तरह के अन्तर की शका नहीं कर सकता था, किन्तु मैं जानता था कि रहस्यवाद किन टेढी मेढी सीढियों से चढ रहा था। गुप्त जी छायावाद और रहस्यवाद से दूर रह कर जनता की समझ के मार्ग में बड़े सुगम रहे हैं। उनकी कविता सब को समझ मे आ जाती है, किन्तु प्रसाद पर लिखी गई उनकी यह रचना कितनी रहस्यपूर्ण है, इसे बड़े बड़े साहित्यकार भी समझने में उलझ जायँगे।

जयशकर कहते कहते ही
　　अब भी काशी जावेंगे,
किन्तु प्रसाद न विश्वनाथ का
　　मूर्त्तिमन्त हम पावेंगे।
नाथ, भस्म ही तेरे तनु की
　　हिन्दी की विभूति होगी,
पर हम को ढूँढते जाने पे

ही पद्यकार के पहले प्रतिष्ठित शब्द और जोड़ देते हों, इससे अधिक नहीं।

इतने बड़े राष्ट्रकवि को केवल एक प्रतिष्ठित पद्यकार समझना उसके लिए क्या भाव उत्पन्न करेगा ? यह ध्यान देने की बात है। अब आगे की एक साधारण सी बात का प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। वह लिखते हैं—

'एक कविता-संग्रह में, जिसमें तथाकथित छायावादी कवियों की रचनाएँ थीं, मेरी भी दो तीन कृतियाँ रख दी गयी थीं। यह बात उन्हें ठीक नहीं लगी। संग्रहकार सोच में पड़ गये। मैंने उनसे कहा—मेरी रचनाएँ न रहने से मेरी कोई हानि नहीं, प्रसाद जी संतुष्ट हो जायँगे, यह लाभ है। इसलिए उन्हें छोड़ देना चाहिये।'

पता नहीं क्यों गुप्त जी ने पुस्तक संग्रहकर्त्ता का नाम नहीं प्रकट किया ? इस पुस्तक का नाम 'परिचय' था। शान्तिप्रिय द्विवेदी द्वारा संकलित और गुप्त जी के यहाँ से ही मुद्रित और प्रकाशित हुई थी। यह हिंदी में संकलन के रूप में पहला छायावादी संग्रह था। इसमें सियारामशरण जी हैं लेकिन बड़े भाई को स्थान नहीं मिला। भूमिका में पं० केशव प्रसाद मिश्र ने लिखा था—

'अनाहूत एवं स्वयमागत शब्दों के द्वारा उसी लावण्य अथवा छाया का निर्देश करना छायावाद की कविता है। इस निर्देश की कोई निर्दिष्ट शैली नहीं हो सकती। हृदय में वेदना चाहिए, वह स्वयं अपनी अभिव्यक्ति का मार्ग ढूँढ लेती है। हठ वश जो पुरानी लीक पर ही लुढ़कना चाहते हैं उनसे तंग आकर ही बिल्हण ने कहा था—

> प्राचीनता वाक्यं गुणेन युक्ताः
>
> के कैर पूर्व पर कान्यकण्ठे.।
>
> आडम्बरं ये वचसां वहन्ति
>
> ते केऽपि कन्याकद्यो जयन्ति।

इस भूमिका से धारणा होती है कि मैथिलीशरण जी की कविता हृदय की वेदना से नहीं निकली है और वह पुरानी लीक पर ही लुढकने वाले हैं।

वेदना और पुरानी लीक में मतभेद की सदैव संभावना रहती है। लेकिन यह मतभेद भी सदा ही रहा। आगे गुप्त जी लिखते हैं—'वे (प्रसाद) स्वयं पाक पटु थे। वैसे ही जैसे वाक् पटु। एक बार ही मैंने हास परिहास में उन्हें क्षुब्ध होते देखा। होली के दिन थे—एक बार कुछ हतप्रभ से होकर प्रसाद जी ने एक अप्रिय बात कह दी। मैंने साग्रह उन्हें शान्त किया—प्रसाद जी का मुख लाल हो गया।' गुप्त जी ने ठीक समझा था उनके आभिजात्य को ही ठेस लगी थी। गुप्त जी लिखते हैं—

आगे साहित्यकारों का भी एक दल उनका अनुगत था। एक बार हँसकर उन्होंने (प्रसाद) कहा था—'किसी की आलोचना प्रत्यालोचना का रस लेना हो तो मुझसे कहो और तटस्थ होकर कौतुक देखो।' कहने को तो यह बात उन्होंने कही, परन्तु जहाँ तक मैं जानता हूँ, ऐसा कौतुक न तो उन्होंने स्वयं देखा, न दूसरों को दिखाया।

गुप्त जी की इन पंक्तियों में उनके और प्रसाद जी की अभिन्नता का आरम्भ से अन्त तक का इतिहास छिपा हुआ है।

फिर गुप्त जी संकेत करते हैं—'यह मेरा सौभाग्य ही था कि कवि के रूप में आदृत न होने पर भी मैं उनका स्नेहभाजन बन गया।'

एक इतने बड़े कवि को जो ख्याति की चरम सीमा पर पहुँच गया है और जिसकी भारत भारती और जयद्रथ-वध की कविताएँ [illegible] की [illegible] हिन्दी [illegible] की कविता का पथ प्रदर्शन किया [illegible] कहाँ तक उचित है? यह प्रश्न [illegible] का [illegible]।

[illegible] प्रतिद्वन्द्विता की भावना निहित है। एक ओर

कविता के क्षेत्र में मैथिलीशरण दूसरी ओर कथा कहानी में प्रेमचन्द। इसमें रश्क की कटुता भले ही न हो लेकिन मैदान में तेज खिलाड़ी सब की आँखें अपनी ओर खींच लेता है।

इस तरह की प्रतिद्वन्द्विता में साहित्य का निर्माण भी ठोस रूप से होता है यह एक माना हुआ सत्य है। 'साकेत' ही कामायनी की प्रेरणा का अंकुर था। तुर्गनेव ने लिखा है कि यथार्थ वर्णन को अस्वीकार नहीं किया जा सकता चाहे वह अपने विरोधी की लेखनी से ही क्यों न लिखा गया हो।

ऋण के संबंध में दोनों कवि भुक्त भोगी थे। इस संबंध में गुप्त जी ने प्रसाद जी की सराहना की है क्योंकि उन्हें एक एक के आठ-आठ तक देने को विवश होना पड़ा था।

आर्थिक दृष्टि से गुप्त जी ने प्रसाद जी और प्रेमचन्द जी की एक तुलना की है। वह लिखते हैं—प्रेमचन्द जी अपने जीवनकाल में प्रसाद जी की अपेक्षा अधिक अभावग्रस्त रहे। परन्तु इन दोनों बड़े साहित्यकारों का लाभ इन्हें नहीं, इनके भाग्यशाली पुत्रों को मिला। कृष्णदास ने ठीक ही कहा था, 'प्रसाद जी की कृतियाँ आज की नहीं, आगामी कल की हैं।'

प्रेमचन्द जी वास्तव में अभावग्रस्त थे। उन्होंने अट्ठारह रुपए मासिक वेतन से अपना जीवन आरम्भ किया था। बम्बई से लौटने पर 'टोटल' आठ नौ हजार जमा कर पाये थे। मैंने देखा है कि दो एक आने पान के लिए भी वह खर्च नहीं कर सकते थे। कहते थे भाई मुझे तो हिसाब देना पड़ता है। अपने लिये एक शेरवानी बनवाना उनके लिये कठिन होता था। भविष्य के संबंध में—उनके बाद कैसे चलेगा इस संबंध में—भी वह प्रसाद की भांति निश्चिन्त नहीं थे। वह जानते थे कि जिन पुस्तकों का कापीराइट उनके आधीन है वह सन्तानों और पत्नी के जीवनयापन

के लिए पर्याप्त नहीं है, फिर भी बच्चों को जैसा शिक्षित वह कर चुके थे वही विचार उनका अवलम्ब बना। प्रेमचन्द के लड़के अपने बल पर भाग्यशाली बने, पिता का यश केवल उनके मार्ग का आलोक बना। अपने भाग्य के साथ दोनों जिस परिश्रम और लगन से पिता की कीर्ति अमर करने म सहायक हुए यह भी किसी स छिपा नहा है। दूसरी तरफ प्रसाद जी धनी होकर नो मुक्तहस्त नहा थ। अपनी आर्थिक स्थिति सुदृढ करने के अतिरिक्त उ होने अपना सन्तान क भविष्य का सौ फी सदी का हिसाब लगा लिया था। राय साहब के व्यावसायिक मूल्यांकन की तरह आगामी कल का गणित लगा वह भी जानत थ। गु त जी लिखते हैं—

'परन्तु अपनी रचनाओं के विषय म कभी भूले न क ते हम लोग चर्चा करत। हाँ, दनों प्र ी ने अपनी रचनाओं की पाण्डुलिपिया अवश्य मुझे दे ता त थ और मुझ द । सत भा गय हैं। उन्हें क दले ही मैंने

वैसे अवसरों से घनिष्ठता रही हो। गुप्त जी की लेखनी द्वारा अत्यन्त रहस्यपूर्ण यह वर्णन है—

पहला है निराला जी का न गाना और कहना—'मैं क्या गाऊँ? मृदग न सही, तबला बजाने वाला भी तो कोई हो।' अन्त में नवीन जी के भृकुटी भग आग्रह पर उन्हें गाना ही पड़ा।

'ऐसे अवसर पर भिन्न-भिन्न प्रकार के आठ-काट इकट्ठे करके कभी-कभी कुटिल हसी हंसते हुए प्रसाद जी आनन्द उठाते थे।' बात बढ जाती तब अपनी कुशलता से वे सबको शान्त भी कर दिया करते थे।

दूसरा है मदैनी से केशव जी से मिल आने के बाद रत्नाकर जी के यहाँ जाना। उन दिनों गुप्त जी सवेरे जलपान भी नहीं करते थे। केशव जी के यहाँ बातों में कुछ विलम्ब हो गया था। उतनी दूर आकर बगल के मुहल्ले शिवाला में रत्नाकर जी को भी जुहारना था। यह बहुत ठीक है कि कवि को श्रोता से बढकर और क्या चाहिए। रत्नाकर जी कविता सुनाने लगे तो रग में आकर अक्षय भंडार ही खोल बैठे। रत्नाकर जी जैसा सुन्दर लिखते थे वैसा ही पढते भी थे। परन्तु अन्त में भौतिकता गुप्त जी की मानसिकता को आक्रान्त करने लगी। वाह वाह करते हुए भी गुप्त जी और प्रसाद जी दोनो आपस में भेद भरी आँखों से देखने लगे। सहसा प्रसाद जी बोल उठे—रत्नाकर जी हमें तो आपका वह कवित्त अच्छा लगता है—'चुप रहो ऊधो सुधो पथ मथुरा को गहो' बस, अन्त में, उसे और सुना दीजिये।' सब लोग हंस पड़े। रत्नाकर जी भी मुसकरा गये। फिर भी उन्होंने वह छन्द सुना दिया। वहाँ से बाहर निकलने के बाद गुप्त जी ने प्रसाद जी की पीठ ठोंकी।

मैं भी प्रसाद जी के साथ रत्नाकर जी के यहाँ उसी तरह केशव जी से मिल कर अनेकों बार गया हूँ। अपने प्रसाद वाले संस्मरण में इसकी

चर्चा पहले ही मैं कर चुका हूँ। बात यह थी कि रत्नाकर जी वृद्ध कवि थ। वह मेरे पूज्य पितामह रामशकर व्यास के मित्रों में थे। ब्रज भाषा की कविता से मेरा मेल बचपन से ही था। केशव जी के यहाँ कोई चहल पहल न रहती, वह गभीर आदमी थे। रत्नाकर जी की सरसता कुछ समा बाँधती थी। कवि होने के साथ ही साथ दुदोती में सुरमा और पुरानी पोशाक ही मेरे जैसे मस्ती ढूँढने वाले को कुछ अपना रग दिखलाती थी। लेकिन रत्नाकर जी के प्रति सम्मान के कारण मैं चुपचाप अपने मन में ही आनन्द लेता था। प्रसाद जी उकसा कर इसका सृजन करते थे।

स्वर्गीय अजमेरी जी के 'पी ल्ह राजा, तुमारे सग भगिया।' वाले दादरे के अन्तरा में जो लाइन प्रसाद जी ने बनाई थी वह कुछ खटकती है—'न जाने कब सारी सरक गई और दरक गई अगिया।'

इस विषय में राय कृष्णदास जी ने जो पद दिया है वह अन्त में ठीक बठता है।

ना जानूँ कब सारी सरकि गयी
ना जानूँ कब दरकि गयी अगिया।

लेकिन विश्व साहित्य में इसका कोई भी मूल्य नहीं है। फिर जब विश्वास घात ही है तो इस तरह का संकेत कर लोगों की उत्सुकता को और भी उकसाना है और यह भी खोलना है कि अन्तरंग बातें जान कर आप बहुत सी गोपनीय बातें अपने साथ ही ले जायगे।

इसके बाद एक बहुत बड़े सत्य का उद्घाटन होता है जो पूज्य द्विवेदी जी के शब्दों में मीठी छुरी चलती रही है, लेकिन उसकी प्रतिक्रिया एक दिन सामने आ ही गई। गुप्त जी लिखते हैं—"केवल एक बार ही उन्हें मेरे विषय में सन्देह हुआ था। फल स्वरूप कुछ दिन वे मुझ से खिंचे रहे। एक समीक्षक ने उनके विरुद्ध बहुत कुछ लिखा। लिखने वाले मुझ से सबधित थे। ऐसी स्थिति में यह स्वाभाविक ही था कि उस कार्य में उन्हें मेरा हाथ जान पड़ा। इसके लिए मैं उन्हें कैसे दोष दूँ। मैंने आलोचक से कहा भी था कि इसका दोष मुझ पर आवेगा। वे बोले—आप कहिए तो मैं अपना निबन्ध न छपाऊँ परतु इससे मेरी अन्तरात्मा को कष्ट होगा। और मैं अपने को कर्तव्य च्युत समझूगा। मैंने कहा—ऐसी बात है तो मैं आप को कैसे रोकू। मेरा जो होना होगा होगा।"

मैथिलीशरण जी की इस सफाई में सत्य का कितना अंश है यह दुहाई देने पर भी समझ नहीं आता क्योंकि इसका विकसित रूप गंगा तट पर ही प्रकट हो गया। गुप्त जी ने प्रसाद जी से कहा—"सीधे नहीं आओगे तो मैं पानी उछाल कर भिगो दूँगा।"

प्रसाद ने व्यग्य से कहा—"और क्या करोगे तुम? जितना चाहो, पानी और कीचड़ उछालो।" यह कहते कहते उनका मुँह तमतमा गया और जब तक गुप्त जी कुछ कहें, अवज्ञापूर्वक मुँह फेर कर प्रसाद चल दिये। गुप्त जी स्तब्ध रह गये, उन्हें भी पीड़ा हुई, परन्तु वह क्या करते।

राय कृष्णदास जी भी वहीं थे। वह इस समय में मौन रहे। गुप्त जी

का यह लिखना कि "हो सकता है, उन्हें भी मेरे प्रति कुछ सन्देह रहा हो" यह प्रमाणित कर देता है कि इतने बड़े काण्ड को पर्दे में कब तक ढका जा सकता है।

फिर बाद में मेल होने पर गुप्त जी ने लिखा है—"आवेग से मेरे आँसू आ गये और धृष्टता क्षमा हो, यह कहते हुए कि तुमने मेरे साथ न्याय नहीं किया, मैंने उन्हें एक थप्पड़ मारी और उनसे लिपट गया।" इस तरह गुप्त जी ने अनुभव किया कि वह पहले से भी अधिक प्रसाद जी के निकट हो गये। थप्पड़ मारने वाली बात तो मेल में भी चपत उड़ाने की प्रतिहिंसा ही झलकती है या जिन लोगों ने आँखों से सब दृश्य देखा होगा वे ही कह सकते हैं।

इन सभी नाटकीय प्रदर्शनों की आधारशिला रखने वाले कृष्णानन्द जी गुप्त हैं जो मैथिलीशरण जी के साथ उन दिनों रहते थे। आज भी उस आलोचना को पढ़ कर कोई भी कह सकता है कि उसमें प्रत्यक्ष आक्रमण था, उसकी शब्दावली शिष्ट नहीं थी। मुझे भी उसका आन्तरिक दुःख था। प्रसाद जी के शरीरान्त के बाद एक पत्र में कृष्णानन्द जी ने मुझे लिखा था कि 'वह एक साहित्यिक विलास था' अब विलासिता में कर्त्तव्यच्युत होना और अन्तरात्मा को कष्ट देना कहाँ तक उचित है [illegible] कह सकता।

भी कवि संमेलन से उदासीन ही रहे। वहाँ से लौटने पर गुप्त जी प्रसाद जी के साथ ही काशी आये थे। रेल के डब्बे में ही प्रसाद जी ने कामायनी का कुछ अंश सुनाया था। अब पहले वाली हिचक 'न सुनने न सुनाने वाली' भी समाप्त हो चुकी थी। अखाड़े में बराबरी की रही।

अन्तिम बार भोजन दोनों ने साथ बैठ कर भारतेन्दु-भवन में किया था।

गुप्त जी के इस लेख में दो खटके की बातें और हैं। एक श्री राजेंद्रनारायण शर्मा को उन्होंने प्रसाद का मित्र लिखा है। यह बात ठीक इसलिए नहीं है कि राय साहब, केशव जी, गुप्त जी और गौड़ जी को छोड़कर अन्य कोई ऐसा नहीं है जो उनका मित्र कहला सके। चिकित्सा भी डाक्टर एच० बी० सिंह जी की हो रही थी और शर्म्मा जी उनके उन दिनों शिष्य थे।

दूसरी बदाम वाली बात भी भ्रमपूर्ण है। बदाम में विष नहीं होता और उसके कारण कोई शारीरिक हानि नहीं हो सकती। अर्थाभाव नहीं? वही अपनी दृढ अर्थ नीति ही खर्च पर शासन करती थी।

कामायनी में सूत कातने वाली बात तो गुप्त जी की पहली देन है। इसको अस्वीकार नहीं किया जा सकता—प्रेरणा के साथ ही साथ।

'कामायनी' पर मंगला प्रसाद पुरस्कार की सूचना देकर मित्रता के अभिनय का सफल अन्त हुआ इसमें भी कोई सन्देह नहीं।

राय कृष्णदास

राय साहब, प्रसाद जी के अन्तरंग मित्र थे। इन दोनों की अवस्था में भी विशेष अन्तर नहीं था। दोनों वैश्य कुल में उत्पन्न हुए थे और दोनों ही काशी के प्रतिष्ठित रईस घराने के मालिक थे। बहुत कुछ समानता होने के कारण यह मैत्री प्रसाद जी के जीवनकाल तक बनी रही।

रईसी का ठाट बाट प्रसाद जी से अधिक राय साहब में था। राय साहब से मिलने के लिए पहले नौकर से खबर भेजना पड़ती थी, दस पाँच मिनट प्रतीक्षा करने के बाद सरकार जी का दर्शन मिलता था।

प्रसाद जी से पहली मुलाकात राय साहब की १९०८ ईसवी में रेडची साहब कलक्टर के बंगले पर हुई थी। उसका वर्णन राय साहब ने किया है—

"जिस दिन की चर्चा कर रहा हूँ, उस दिन वहाँ मैंने एक ऐसी सूरत भी देखी जो मेरे लिए वा साहब के बंगले के लिए सर्वथा नयी थी। फलत उसके सम्बन्ध में यह कल्पना नहीं की जा सकती कि वह चलते-चलाते साहब का सद्भाव वा सर्टिफिकेट प्राप्त करने वहाँ पहुँची है। सो, सभी मिलने वाले, कुछ सकुतूहल, उधर ध्यान लगाये हुए थे।

अवस्था में मुझ से कुछ अधिक—उस समय मैं सोलह का था—एक नवयुवक एक ओर बैठा हुआ था जिसके संग एक अन्य व्यक्ति थे जो अवस्था में तीस के इधर-उधर जान पड़ते थे। ये लोग आपस में जिस प्रकार धीरे-धीरे बातें कर रहे थे उससे प्रौढ व्यक्ति युवक के परामर्श-दाता वा पथ प्रदर्शक जान पड़ते थे। युवक का कद कुछ नाटा, शरीर बहुत कसा हुआ, रंग खूब निखरा गोरा और आकृति भव्य तथा दर्शनीय थी। वह शेरवानी और पाजामा पहने हुए था। सिर पर लाल वा हरी चुदरी की लट्टूदार पगड़ी थी। सभी आँखें जहाँ कुतूहलवश उधर लगी हुई थीं वहाँ मूर्ति की इस दर्शनीयता के कारण भी। प्रसाद जी की गोराई के सम्बन्ध में उस्ताद रामप्रसाद कहा करते थे कि क्या ये चन्द्रमा के निचोड़ का लेप तो नहीं किया करते। जैसा उनका रंग था वैसी ही सुन्दर तराश भी थी और इसमें था पौरुषमय सौंदर्य। कसरत-कुश्ती ने उनका शरीर साँचे में ढाल दिया था। अत उन पर जो आँखों की भेंट चढ़ रही थी वह सर्वथा स्वाभाविक थी। मैं भी प्रसाद जी की यह पहली झाँकी ले रहा था।"

मैंने प्रसाद जी का यह रूप कभी प्रत्यक्ष नहीं देखा था। उनके

कमरे में टगे एक चित्र में उनका वह स्वरूप देखकर कई बार मैं मुस्कराया था। ऐसा मालूम पड़ता था कि बरात में दुल्हा बन कर प्रसाद जी जाने वाले हैं।

उस्ताद रामप्रसाद की चन्द्रमा के निचोड़ के लेप वाली बात केवल बढ़ावे का दम भरना था। जवानी का उनका गठा हुआ कसरती शरीर साँचे में अवश्य ढला था लेकिन सौन्दर्य कोई इतना आकर्षक नहीं था। छोटी छोटी आँखे, चिपटी नाक, इसे दर्शनीय नहीं कहा जा सकता। मित्रता के खिंचाव ने उस समय राय साहब को भावुक अधिक बना दिया था। रंग भी वैसा गोरा नहीं था जैसा कश्मीरी या पारसियों का होता है।

अपने संस्मरण में राय साहब ने एक बड़े मार्के की बात बतायी है। "उन दिनों काशी में अग्रवाल स्पोर्टस् क्लब नाम वाली अग्रवाल युवकों की एक बड़ी सजीव गोष्ठी थी। उसके अधिवेशन प्रति रविवार को हुआ करते और महीने के अन्त में उसकी एक लिखित पत्रिका भी निकलती जो सदस्यों को पढ़ कर सुनायी जाती। इस पत्रिका में समय के अनुसार अच्छे अच्छे लेख रहते, कुछ तो समय से आगे के भी होते। क्लब के अधिकांश सदस्य होनहार थे—स्वर्गीय शिवप्रसाद गुप्त, श्री श्रीप्रकाश आदि का बहुत कुछ निर्माण उस क्लब में ही हुआ।

उक्त लिखित पत्रिका के जब अनेक अंक निकल चुके तो क्लब ने पाया कि उनमें कितने ही लेख ऐसे हैं जो तत्कालीन हिन्दी की किसी भी पत्रिका के लेखों से टक्कर ले सकते थे। अतएव उसने एक छोटी सी पत्रिका प्रकाशित करना निश्चित किया और 'भारतेन्दु' नाम से उसे निकाल दिया। भारतेन्दु में कुछ लेख ऐसे निकले जो आज भी याद [illegible] हुए हैं। किन्तु [illegible] हिन्दी पत्रों की पुरानी बीमारी थी। [illegible] बाद 'भारतेन्दु' बन्द हो गया। यह घटना १९०७ की बात है।

१९०८ में प्रसाद जी की निर्मात्री प्रतिमा अपने को लोक में व्यक्त करने के लिए व्याकुल हो रही थी। अतः उन्होंने भाजे—स्वर्गीय अम्बिका प्रसाद गुप्त से 'भारतेन्दु' के पुनः प्रकाशन की अनुमति के लिए क्लब को लिखवाया। क्लब ने कुछ ऐसी शर्तें रखीं कि अम्बिका प्रसाद को यह अनुमति न मिल सकी। ऐसा याद पड़ता है कि इसी प्रसंग में प्रसाद जी की कुछ चर्चा क्लब में हुई थी, क्योंकि तब उनका साहित्यिक व्यक्तित्व काशी में कुछ-कुछ विदित हो चला था।"

'भारतेन्दु' हरिश्चन्द्र अपने बाद अपना एक महान् आदर्श छोड़ गये थे जो काशी के युवकों को बराबर प्रभावित करता रहा। 'प्रसाद' जी पर भी यह प्रभाव पड़ा। काशी का साहित्यिक वातावरण 'भारतेन्दु' काल से ही अपना अस्तित्व रखता है। प्रसाद जी की एक कविता व्रज-भाषा में 'कलाधर' उपनाम से जुलाई १९०६ के 'भारतेन्दु' में प्रकाशित हुई थी। उसी संख्या में मेरे पूज्य पिता स्वर्गीय कालीशंकर व्यास की एक अंग्रेजी कविता का अनुवाद छपा है। यह कविता 'द लैडर ऑफ सेंट आगस्टस' लांग फैलो की रचना है। इससे यह प्रतीत होता है कि अंग्रेजी कविता की ओर युवकों का ध्यान आकर्षित हो रहा था।

प्रसाद जी और राय साहब की मित्रता का गठबन्धन कराने में स्वर्गीय केदारनाथ पाठक का प्रमुख हाथ था। पाठक जी नागरीप्रचारिणी सभा के पुस्तकाध्यक्ष थे। वे अपने ढंग के अकेले आदमी थे, कान से कम सुनाई पड़ता था, लेकिन हिन्दी साहित्य का प्रचण्ड ज्ञान उन्हें था। किसी भी महत्त्वपूर्ण हिन्दी पुस्तक के सम्बन्ध में तत्काल ही उनकी सम्मति बड़ा सहयोग दे देती थी। मेरे ऊपर भी उनकी कृपा थी और बराबर वे मुझे लिखने के लिए उत्साहित किया करते थे।

ऐसे व्यक्ति का सभी सहृदय लोगों की मण्डली में स्वागत होना है।

युवकों के मध्य में वे बड़े सरस बन जाते थे या यों कहना चाहिये कि जिस जमघट में वे सम्मिलित होते उसके एकमात्र आकर्षण का केन्द्र बन जाते थे। सभा के कार्य से अवकाश मिलने पर कभी रायसाहब और कभी प्रसाद जी के यहाँ उनका डेरा जमता था। इन दोनों के बीच संदेशवाहक के रूप में सद्भावना सहित वे प्रायः कार्यक्रम का निश्चय भी कराते थे।

राय साहब और प्रसाद जी दोनों की मनोवृत्ति मनोरंजन और परिहास की सामग्री जुटाने में बहुत कुछ मिलती जुलती थी। पात्रों को उकसा कर अभिनय का स्वरूप निर्धारित करना उनके बायें हाथ का खेल होता था। बहर पाठक जी सूत्रधार से विदूषक का रूप धारण कर लेते थे। सचमुच उनकी बातों में बड़ा आनन्द आता था।

काशी की गली और सड़कों पर उस काल में अनेक मनोरंजन के साधन प्रस्तुत हो जाते थे जो बनारसिया की 'पॉकेट' में भी मिल जाते थे, लेकिन रईसों के निवास पर बहुत कुछ खर्च हो जाता था। राय साहब ने अपने संस्मरण में स्वर्गीय पंडित किशोरीलाल गोस्वामी का 'स्नेप शाट' खींचा है जो बहुत स्वाभाविक और लोटपोट कर देनेवाला है। इस वर्णन की वास्तविकता अपने असली स्वरूप में प्रकट होती है।

की जड़ में व्यक्तिगत कारण भी थे जिनके व्योरे देकर अतीत को वर्तमान बनाना उचित नहीं जान पड़ता। कलकतिया पत्र 'भारत-मित्र', 'बंगवासी' और 'हितवार्त्ता' इस आन्दोलन में मुख्य भाग ले रहे थे। विशेषत हितवार्त्ता के—जिसके सम्पादक पराड़कर जी थे—स्तम्भ तो इस आन्दोलन की चर्चा से भरे रहते। तिथियों के आन्दोलन ने उतना जोर नहीं पकड़ा। एक पक्ष तो यह विरोध करता कि लोगों के धार्मिक कृत्यों में व्यवधान पड़ेगा और दूसरा पक्ष यह प्रमावित करके प्रतिवेदन करता कि सम्मेलन के कारण नवरात्र के कर्म कलाप में कोई अन्तराय न पड़ेगा। हाँ, भारतेन्दु-उपाधि का विरोध बड़ी शान और धूमधाम से चला तथा विद्वानों और साहित्यकारों ने प्रतिपक्ष के दांत खट्टे कर देनेवाले बड़े मार्के के लेख लिखे।

प्रसाद जी, पाठक जी, स्वर्गीय ब्रजचन्द जी तथा मैंने मिल कर एक गुट बनाया जिसके अगुआ गोस्वामी किशोरी लाल जी किये गये। एक दिन मेरे यहाँ सब एकत्र हुए और यह निश्चय हुआ कि गोस्वामी जी एक जोरदार 'पैम्फलेट' लिखें जो छपाकर सभा के सभी सदस्यों तथा अन्य हिन्दी-प्रेमियों के पास भेजा जाय। साथ में एक मुद्रित टिकटदार पोस्टकार्ड हो जिसमें इस विरोध का समर्थन हो कि पानेवाले यदि सहमत हों तो उस पर हस्ताक्षर करके लौटा दें और इस प्रकार यह महाविरोध सम्मेलन के सामने रखा जाय। गोस्वामी जी ने बड़ी तेजी से पुस्तिका तैयार की जिसमें प्रस्ताव के अनौचित्य दिखाने के साथ सभा और उसके कार्यकर्ताओं की काफी खिल्ली भी उड़ायी गयी थी। पाठक जी ने दिन रात एक करके उसे तथा साथवाले कार्ड को छपवा भी डाला। किन्तु प्रेस से इस साहित्य के आते-आते किसी प्रकार बात फूट गयी और सम्मेलन के कर्णधारों की नैतिक कमर

ऐसी टूट गयी कि प्रस्तावों की पाडुलिपि से उन्होंने उस गर्हित, स्वार्थपूर्ण एव बदनाम प्रस्ताव को हटा ही दिया।

अपनी विजय के उल्लास में भरे हुए गोस्वामी जी मेरे यहाँ आये। साथ में पाठक जी भी थे। जिन लोगो ने गोस्वामी जी की बातें सुनी हैं उन्हें याद दिलाने की आवश्यकता नहीं, उन (बातों) में उनके उपन्यासों से कहीं अधिक रंगत रहती, उसी रंगत के साथ उन्होंने सुनाया कि उनके यहाँ यद्यपि बैरग पत्रादि लेनेका नियम नहीं है, फिर भी संयोगवश वे घर पर नहीं थे और डाकिया एक बैरंग पैकेट दे गया। अत वह लिया ही जा चुका था, अतएव गोस्वामी जी ने उसे खोल डाला और पाया कि भारतेन्दु वाले मामले में विपक्षियों ने बहुत कुछ खरी खोटी लिख भेजा है। साथ ही उनका एक चित्र भी है जिसे अपमानित किया गया है। टिप्पणी रूप में उन्होंने यह भी कहा कि 'अच्छा हुआ पैकट ले लिया गया, अन्यथा वह मुर्दा डाकघर मे पहुँचता, जहाँ अनेक परिचित हैं और वे खोलकर देखते तो मन में क्या कहते।' बहिरे पाठक जी कान लगाकर, बड़े ध्यान से, ये बातें सुन रहे थे। ज्यों ही गोस्वामी जी ने अन्तिम वाक्य पूरा किया, वे कह उठे—'भला हुआ कि आप के यहाँ वह पैकेट ले लिया गया, अन्यथा [illegible]

वृत्तान्त सुना तो स्वभावत बहुत हंसे। अनेक दिनों तक यह घटना हम लोगों की हंसी का मसाला रही।

सम्मेलन के एक विरोध का तो यह परिणाम हुआ। दूसरे विरोध के विषय में किसी की कुछ न चली और सम्मेलन की तिथियाँ दुर्गापूजा में ही रहीं। अब विरोधी दल के हाथ में केवल एक अस्त्र था। आचार्य द्विवेदी जी के साथ, उस समय के पूर्व, 'सभा' कुछ ऐसा वर्ताव कर बैठी थी कि सभा से वे बिलकुल अलग हो गये थे। यारों ने सोचा कि सम्मेलन के अवसर पर द्विवेदी जी काशी बुलाये जायँ—सभा में वे आयँगे ही नहीं और इस प्रकार सम्मेलन का मूर्तिमान विरोध हो जायगा। मैं इसका अगुआ बनाया गया।

उधर सम्मेलन की तिथिया आयीं, इधर द्विवेदी जी मेरे अतिथि होकर आये। मैंने अपना अहोभाग्य माना। मेरा घर एक साहित्य-तीर्थ बन गया। सवेरे से शामतक साहित्यिकों का ताता लगा रहता। सम्मेलन के सूत्रधार बड़ी विषम परिस्थिति में पड़ गये। द्विवेदी जी काशी में हों और वे सम्मेलन में न पधारें, इससे बढकर कलक की बात सम्मेलन वालों के लिए दूसरी नहीं हो सकती थी। उन्होंने लाख लाख चेष्टा की, किन्तु व्यर्थ। द्विवेदी जी ने निश्चय कर रखा था कि जिस नागरी प्रचारिणी सभा ने उनके संग इतना अन्याय किया है उसके अहाते में—जहाँ सम्मेलन का रंगमञ्च था—वह पाव न धरेंगे।

इस आन्दोलन में भी प्रसाद जी हम लोगों के साथ थे और जहाँ तक मुझे याद है सम्मेलन में नहीं गये थे।"

ऊपर दिये हुए विवरण में राय साहब ने बड़ी कुशलता से चित्रण किया है। कोई भी उसे पढकर भलीभाति समझ सकता है कि यह विरोध भी रईसी ढंग का था और उसमें काफी पैसे खर्च हुए थे। पण्डित किशोरीलाल

गोस्वामी वाली बात पढकर तो हसी रुकती ही नही। गोस्वामी जी का हिन्दी ससार में महत्त्वपूर्ण स्थान था। अनेकों बार उनके ससर्ग में रहनेका सौभाग्य मुझे भी प्राप्त था। वे बडे शौकीन थे और बडी लच्छेदार बातें करते थे। वृद्धावस्था में उनकी इतनी सरसता देखकर आश्चर्य होता था। पूरे बनारसी रगों म रगे थे। राय साहब का वर्णन पढकर मुझे ऐसा प्रतीत हुआ जैसे मै स्वय अपनी आँखो से वह सब देख रहा हूँ।

साहित्यकारों का जमघट राय साहब के यहाँ प्रतिदिन रहता था। राष्ट्रकवि मैथिलीशरण जी, अजमेरी जी के साथ जब आ जाते थे तो यह चहल पहल बहुत बढ जाती थी। मै प्रसाद जी के साथ उनके यहा बराबर जाता था और घण्टो बैठा रहता। कभी ऐसा स्मरण नही आता कि प्रसाद जी को वहाँ छोडकर मै अकेला चला आया। इस मण्डली में बैठकर कभी भी जी नहीं ऊबता था। वह साहित्य चर्चा सुनना भी एक बडे भाग्य की बात थी।

हिन्दी साहित्य के निर्माण मे राय साहब का कितना हाथ था? इसे वही लोग समझ सकते है जो उनके साथ बराबर रहे हैं। बाहर से काशी आनेपर कोई भी सम्मानित लेखक और कवि राय साहब का अतिथि होता था। उचित सत्कार पाकर सभी उनसे सन्तुष्ट रहते थे। लोगों को आश्चर्य होता है कि राय साहब का लाखों रुपया कैसे खर्च हुआ? लेकिन यह रहस्य नहीं, स्पष्ट है। राय साहब मुक्तहस्त थे। उन्होंने रुपयों को [illegible] कर या धन [illegible] कर अपने भविष्य पर कभी ध्यान नहीं दिया। यही कारण है कि इधर के दिनों म उन्हें अनेकों कठिनाइयों का सामना करना पडा।

[illegible] और [illegible] [illegible] उनसे [illegible] लगे थे, उसमे [illegible] [illegible], [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] और साहित्य

में ही व्यय हुआ। मैं भली भांति जानता हूँ कि किसी दुर्व्यसन में उनका धन खर्च नहीं हुआ। वह नशे से दूर थे, यहाँ तक कि पान का भी उन्हें कोई व्यसन नहीं था। हाँ, खाना और खिलाना इसके वे अवश्य शौकीन हैं। वह धन को अपने जीवन में कभी भी सञ्चित न कर सके। ऋण की उलझन में वह सदैव ग्रस्त थे। सब कुछ अपना खोकर भी वह कभी चौकन्ने नहीं हुए।

मैं समझता हूँ कि उनकी सरलता या बालकों जैसा मन ही घातक हुआ। नीति, चाल और तरकीब से वह बहुत कुछ कर सकते थे, लेकिन इसमें वह कुशल भी नहीं हैं और कुछ भाग्य ने भी साथ नहीं दिया।

श्री मैथिलीशरण गुप्त और प्रसाद जी दोनों से राय साहब की घनिष्ट मित्रता थी। लेकिन यह पता लगाना बड़ा कठिन हो जाता था कि दोनों में वह अधिक किसको मानते हैं? मैं समझता हूँ कि गुप्त जी और प्रसाद जी में सद्भावना बनी रहे इसके प्रेरक राय साहब ही थे और सदैव यही प्रयत्न करते रहे कि दोनों में कभी मनोमालिन्यता का भीषण रूप धारण न हो। प्रसाद जी से राय साहब की पहली मुलाकात १९०८ ई० में हुई थी और मैथिलीशरण जी जुलाई या अगस्त १९११ ई० में पहली बार उनके यहाँ आये थे। और तब से बराबर प्रति वर्ष वह काशी आते और राय साहब के यहाँ ही ठहरते थे। लेकिन अब वृद्धावस्था में दिल्ली से ही उन्हें अवकाश नहीं मिलता।

गुप्त जी की हीरक-जयन्ती के अवसर पर राय साहब ने एक लेख लिखा था उसमें दोनों की मैत्री का पूरा विवरण मिलता है। पढ़िये—

"उनके संस्मरण लिखने का तात्पर्य अपना ३४ बरस का आत्मचरित ही लिखना होगा। इस अन्तर में हम लोगों के जीवन का कुल मिलाकर कम से कम ४ वर्ष एक साथ बीता है और बाकी समय निरन्तर के ऐसे

हार्दिक पत्र व्यवहार से भरा हुआ है जो एक साथ जीवन-यापन के तुल्य है। जब हम लोग संग रहे हैं तो सोने और नित्य कर्मों को छोड़कर प्राय सारा समय एक साथ बीता है और अनेक बार तो हमने सोने के समय पर भी बेतरह धावा किया है।'

मैंने राय साहब के सम्बन्ध में बचपन का जो संकेत किया है उसे मैं लेखनी से पूर्ण व्यक्त नहीं कर सका हूँ, और ऐसे 'रिमार्क' पर लोगों को भ्रम भी हो सकता है। अतएव यहाँ उन्हीं की लेखनी द्वारा उसे स्पष्ट करना चाहता हूँ।

"इस ३४ बरस के लम्बे रास्ते में (१९३६ तक) कभी हमारा गहरा मतभेद भी हुआ है। कितनी बार हम लड़े झगड़े भी हैं। किन्तु यह सब ठीक उसी प्रकार जैसे दो प्रेमियों में होता है। यद्यपि गुप्त जी ने कभी मुझे नहीं मनाया है, प्राय यही हुआ कि मैं ही झगड़ा हूँ और मैंने ही मनाया भी है, किन्तु उस मनाने में एक क्षण से अधिक नहीं लगा है। ज्यों ही मेरा मिजाज ठिकाने हुआ है और मैंने पूर्ववत् व्यवहार किया है त्यों ही उनके बाहर या भीतर रुखाई की कोई रेखा नहीं रह गयी है। किन्तु यद्यपि उन्होंने कभी मुझे मनाया नहीं है तो भी ऐसे प्रसंग में कभी कभी उन्होंने जो ममत्व के आँसू बहाये हैं वे उस मनाने से कहीं मूल्यवान हैं। जहाँ तक मुझे याद है हम में कभी मनमोटाव नहीं हुआ है।"

श्री राय कृष्णदास के मिजाज की यह बात है कि जिस समय उनके दिमाग पर जो आया, उसका परिणाम कैसा और क्या होगा यह बिना सोचे ही, वह उसका प्रयोग कर बैठते थे और इसके लिए उन्हें उस समय [illegible] —'लो मेरा मिजाज ठिकाने हुआ।' [illegible] नहीं पाया, इसे उनके द्वारा

अल्हड़पन ही समझता हूँ क्यों कि इसका अनुभव मुझे है और इसके लिए उनके प्रति मेरे मन में कोई रंजिश नहीं है।

श्री मैथिलीशरण जी ने ३० वर्ष ऋण चुकाकर अपनी स्थिति बहुत शानदार बना ली, लेकिन इसी में लापरवाही के कारण रायसाहब ने अपनी ओर ध्यान नहीं दिया। दूसरों ने उनसे काफी लाभ उठा लिया। लेकिन अपने आत्माभिमान के कारण वे किसी के सामने झुके नहीं (मित्रों को छोड़कर) और इसी कारण वे अपने लाभ के पुरस्कारों से वञ्चित रहे।

मैं समझता हूँ कि उच्चकुल में उत्पन्न होने के कारण रईसी के दरबारियों ने उन्हें कटु अनुभव करने के लिए बाध्य किया। लेकिन उनकी मौलिकता पश्चात्ताप कर भी अपने स्थान पर दृढ़ रही, ऐसा मेरा विश्वास है।

बनारसीदास चतुर्वेदी

चतुर्वेदी जी के फिजी प्रवासी भारतवासी वाले आन्दोलन से ही हिन्दी संसार उनके नाम से परिचित हो गया था। इससे पहले वह कविरत्न स्वर्गीय सत्यनारायण के जीवनी लेखक के रूप में प्रवेश कर चुके थे। लेकिन कविरत्न की भांति वह भी लोगों की दृष्टि से ओझल ही रहे।

पाक्षिक जागरण निकालने के पहले मैं जागरण के चित्र और ब्लाक के लिये कलकत्ता गया था। उस समय प्रायः मैं विशाल भारत कार्यालय में जाता रहा। स्वर्गीय व्रजमोहन वर्मा से मेरा मेल बैठ गया

तत्काल करने लगे। मैंने कोंच कर उन्हें सावधान किया कि यह लेखनी तक ही सीमित रहे अन्यथा दुनियाँ से अपयश की चट्टानें टूट पड़ेंगी। और चतुर्वेदी जी अपनी नीची निगाहों को घुमाते-फिराते दूर हो गये क्योंकि प्रत्यक्ष रूप में उग्र की उग्रता से होड़ लेना उनके जैसे सरल नीतिकुशल के साहस का सामर्थ्य नहीं था।

उग्र के कंधे पर हाथ रखते हुए भी चतुर्वेदी जी से मेरा व्यवहार भड़काने वाला नहीं था। क्योंकि अपयश का टीका लगा कर भी लेखनी से साहित्य सृजन के अतिरिक्त विलासिता के नग्न नृत्यों का चित्रण करने से मैं सावधान था। मेरी इस भावना के साथ प्रसाद की मान्यताएँ सर्वोपरि थीं।

घासलेटी आन्दोलन में बापू का चरण छू कर चतुर्वेदी जी ताल ठोंक कर उतरे थे। उन्हें सभी नैतिक आदर्शवादियों का समर्थन प्राप्त था और इस कार्य में उनका उत्साह बढ़ता गया। घासलेटी रचना, उसे साहित्य कहना तो मजाक ही है क्योंकि शैम्पेन की बोतल में उड़ते हुए कार्क की भांति वह लोप हो जाता है—का अस्तित्व समय की खुमारी के साथ विलीन हो जाता है। नग्न विदेशी चित्रों और कामशास्त्र की पुस्तकों की भाँति भोग का साधन बन कर अन्त में अवस्था ढलने पर वह अपनी आँखों में ही गिर जाता है। उसे छेड़ कर लोगों को शिक्षा देने के बजाय और परिचित करा देना होता है।

चतुर्वेदी जी के इस आन्दोलन की सफलता का सौभाग्य उनकी दृष्टि में भले ही उन्हें प्राप्त हो गया हो, लेकिन उसका परिणाम उग्र की प्रतिभा पर अच्छा न हुआ। वह लड़ झगड़ कर थक गई—समाप्त नहीं हुई। और पीछे आने वाले खुल कर आगे आये। चाँद का समाज सुधारक प्रयास और कुशवाहाकान्त का दल तब प्रचलित हुआ। यह

सब उग्र के पद चिह्नों की धूल उड़ाते हुए जनता की रुचि का प्रदर्शन करने लगे।

कच्ची जमीन में दौड़ती हुई भीड़ के गर्दे से अपना चश्मा पोंछते हुए चतुर्वेदी जी ने सोचा कि यह सब नौटंकी का खेल तो समाप्त हुआ अब कोई खास साहित्यिक प्रयोग आरम्भ करना चाहिये। तब हिन्दी साहित्य का पतवार धरने वाला प्रसाद के अतिरिक्त उन्हें अन्य दूसरा व्यक्ति समझ नहीं पड़ा। उन्होंने विश्‍लेषता का आश्रय लेकर अपने प्रोपेगेन्डा का प्रहार उनके ऊपर प्रारम्भ किया। विशाल-भारत का शिलान्यास कर वह ऊँची अट्टालिकाओं का स्वप्न देख रहे थे। चिन्तामणि बाबू का दृष्टान्त वह रामानन्द बाबू के साथ खोज चुके थे। एक बंगाली ने 'सरस्वती' द्वारा जो हिन्दी का उत्थान किया था अब दूसरे बंगाली द्वारा वह माध्यम उन्हें हस्तगत हो गया था।

आचार्य द्विवेदी जी की अवसर प्राप्त आराम कुर्सी का लक्ष्य चतुर्वेदी जी की आँखों में गड़ा था। लेकिन द्विवेदी जी में जिस आत्माभिमान, भाषा पर अधिकार, प्रचण्ड अध्ययन, प्रतिभावान जैसे जन्मजात

मैं भलीभांति जानता हूँ कि हिन्दी के प्रति उन लोगों की क्या धारणा थी। वह हिन्दी के समकालीन साहित्य को बंगला का जूठन मात्र ही समझते थे। ऐसी स्थिति में तर्क न कर अनुमोदन का मार्ग ही चतुर्वेदी जी के संमुख था। स्वर्गीय राखाल बाबू की इसी धारणा से प्रसाद का जब साक्षात हुआ तब उन्हें कायल होना पड़ा था। चतुर्वेदी जी बंगला के साहित्यकारों को प्रसाद से परिचित कराने के बजाय उनके विपरीत विशाल-भारत में आन्दोलन ही करने लगे। और चुन चुन कर आलोचकों से उनकी कृतियों पर प्रहार कराना ही उनका उद्देश्य हो गया था। अपनी इसी मनोवृत्ति को वह पं० हजारी प्रसाद द्विवेदी के एक पत्र में प्रकट करते हैं। द्विवेदी जी लिखते हैं—

"संभवत सन् १९३७ ३८ की बात है, उस समय कामायनी नई प्रकाशित हुई थी, और प्रसाद जी बीमार थे। प० बनारसीदास चतुर्वेदी ने कामायनी की एक प्रति भेजी, और अनुरोध किया कि विशाल भारत के लिये उसकी एक समालोचना लिख दूँ। चतुर्वेदी जी ने उदार और स्नेह-परायण हृदय के अनुरूप ही पत्र में यह भी लिखा कि 'विशाल-भारत' में प्रसाद जी के विरुद्ध छपता रहा है, परन्तु वे इस समय बीमार हैं, और उनका स्वास्थ्य बहुत ही नाजुक स्थिति में है, इसलिए कामायनी की आलोचना करते समय अपने स्पष्ट विचारों को तो अवश्य लिखूँ, परन्तु कहीं भी कोई ऐसा कड़ा वाक्य न लिख दूँ, जिससे रुग्ण प्रसाद जी को रत्तमात्र भी कष्ट पहुँचने की सम्भावना हो। चतुर्वेदी जी ने और भी लिखा है कि प्रसाद जी के गुणों की भी चर्चा उदारतापूर्वक अवश्य होनी चाहिए, और अन्त में यह भी लिख दिया कि ये मेरे विचार हैं, आप जो जैसा उचित जान पड़े करें।'

प्रसाद जी के पास आये हुए इन पत्रों को मैं मन से लगा रहा था

उस समय चतुर्वेदी जी के अगणित पत्रों को मैंने उनमें रखा था। चतुर्वेदी जी श्री मैथिलीशरण के समर्थक रहे और प्रसाद के प्रति जो भावना उनकी थी वह खुद प्रकट कर रही है कि 'विशाल-भारत' में प्रसाद जी के विरुद्ध छपना रहा है। अब बीमारी के कारण या यों कहिये कि 'विदाई की बनी, सिर पर बनी' ऐसे समय पर चतुर्वेदी जी के उदार और स्नेह परायण हृदय की सरलता पर प्रसाद की तरफ से केवल मुस्करा देने की मेरी भी इच्छा होती है।

पं० हजारी प्रसाद द्विवेदी 'अवसरवादी' स्वभाव के हैं। बंगला का प्रभाव उनके ऊपर शान्ति निकेतन में काफी पड़ चुका है। पं० बनारसी दास के अनुरोध पर वह प्रायः लिखा करते थे। प्रसाद के सम्बन्ध में उनकी भी यही धारणा थी—'जिसको मैं किसी दिन निरर्थक शब्द योजना करनेवाला समझता था।' लेकिन उनके चले जाने पर कामायनी पर वह भी मुग्ध हुए।

ऐसे प्रसंगों पर बार बार मुझे स्वर्गीय शास्त्री जी की बात याद आती है जो उन्होंने चिट्ठी पर लिखी थी कि 'जब समस्या समुद्र में पार कर चुका तब तुम [illegible] देने लगे हो।'

[illegible] और आज के युग [illegible]

मेरा स्वभाव ऐसा है कि मेरी किसी रचना के संबंध में कोई केवल इतना ही कह दे कि आपकी यह रचना सुन्दर है लेकिन बहुत अच्छी, जैसी आपकी लेखनी से निकलनी चाहिए, वैसी नहीं हुई है तो इतना ही मुझे व्यग्र करने के लिए पर्याप्त है। प्रेमचन्द जी का ऐसा ही भाव मेरी एक कहानी के सबध में उनके एक पत्र में मुझे पढने का सौभाग्य प्राप्त हुआ था। बाद में ३०-३५ वर्ष पहले वही कहानी अनुवादित होकर गुजराती के एक पत्र के विशेषाक में प्रकाशित हुई थी। किसी भी लेखक की कोई कृति यदि मुझे नहीं रुची तो इसका मतलब मैं यह समझ लूँ कि यह व्यर्थ है और यह किसी को भी पसन्द नहीं आयगी तो यह मेरी इतनी बडी भूल होगी जो समझाने पर भी मैं नहीं समझ सकूँगा। यही मनोवृत्ति हमारे साहित्य सुधारक प० बनारसीदास चतुर्वेदी जी की है। और इसी मनोवृत्ति के कारण उग्र और प्रसाद की लेखनी का सुधार तो चतुर्वेदी जी नही कर सके, लेकिन टूटे पावे की एक आराम कुर्सी दिल्ली में उन्हें अवश्य ही प्राप्त हो गई।

चतुर्वेदी जी के प्रति मेरा सद्भाव उसी तरह है जैसा एक निश्छल मानव का एक दूसरे के प्रति होता है। खटपट का युग भी बूढा हो गया। और उस युग के प्राय सभी साहित्यिक साथी विदा हो चुके और जो बचे हैं वे भी कठिनाइयों और उलझनों में अपने दिन गिन रहे हैं। भारतेन्दु और प्रसाद अपनी कहानी छोड़ गये हैं। उस कहानी का वास्तविक अध्ययन करने वाले भी विरले ही बचे हैं। मैं 'योरोपीय साहित्यकार' वाली अपनी भूमिका मे लिख चुका हूँ कि हिन्दी में संस्मरण और जीवनी लिखने में पं० बनारसी दास चतुर्वेदी और शिवपूजन सहाय अग्रगण्य हैं। इन दोनों ने जो कुछ कार्य हिन्दी साहित्य मे किया है वह आदर्शवादी लक्ष्य पर ही पूरा हुआ है। अब इस बदलते और पूरा बदल जाने वाले युग में उनका

मूल्यांकन अथवा स्थायित्व सोशलिस्ट रियलिज्म की कसौटी पर ही होगा। भविष्य में आराध्य देवों का ऐतिहासिक नाम ही लोग गिनेंगे। उनके जीवन और चरित्र की वास्तविक दुर्लभ गाथाएँ अप्राप्य ही होकर अन्वेषकों को निराश करेंगी।

हिन्दी साहित्य में इस जीवनी और संस्मरण के अधूरे अंग का अभाव अनुभव करते हुए भी केवल प्रिंस क्रोपाटकिन और टालस्टाय की कब्र पर फूल चढ़ा कर ही हम पूरा न कर पायेंगे। शताब्दियाँ कृतिकारों के साथ ही इतिहास निर्माता और आलोचकों का भी स्मरण करेंगी तो चतुर्वेदी जी का नाम भी हिन्दी राष्ट्रभाषा के नाम पर विश्व साहित्य में राष्ट्र संघ के किसी एक पीछे की कुर्सी पर चिपका दिया जायगा और प्रतिनिधित्व का पासपोर्ट लेकर हिन्दी दूत उसमें सम्मिलित होगा।

भाषण, प्रश्न और वार्ता होगी संस्कृति और साहित्य पर और हिन्दी दूत का प्रश्न होगा—आपके देश में सभी औरतें मोटी क्यों होती हैं? तब वाल्मीकि, कालिदास, हरिश्चन्द्र और प्रसाद के सवाल के प्रश्न और भारतीय कला की व्याख्या [illegible] होकर विश्व के अपरिचित मस्तिष्क में मंडराती ही रहेगी। गांधी और नेहरू का देश अनभिज्ञ बन कर उँगलियों और [illegible] से [illegible] करता रहेगा। और अपने देश में आकर वह दूत टेलिविज़न पर [illegible] रहेगा कि 'मैं दूसरा भारतीय हूँ जो प्रसिद्ध [illegible] की कब्र पर फूल चढ़ा आया। मेरे पूर्व यह सौभाग्य पं० बनारसीदास चतुर्वेदी जी को प्राप्त हुआ था' तब उसकी

सबब में विश्वविद्यालय के बहुतेरे अन्वेषकों की जिज्ञासा से मै परिचित हुआ हूँ अतएव चतुर्वेदी जी का नाम उसमें अनायास ही आ जाता है। मेरा अपना अनुभव जो कुछ कहता है उसके अनुसार मैं यही जानता हूँ कि घासलेटी आन्दोलन का इतिहास और प्रसाद की कृतियों की आलोचना से चतुर्वेदी जी के नाम की प्रसिद्धि हिन्दी में अवश्य हो गई और इसमें वह आराम कुर्सी पर बैठ कर पूर्ण सफल हुए।

दुनियाँ में जितने भी धन्धे पैसा प्राप्त करने के लिए किये जाते हैं उनमें यह साहित्य का धन्धा बड़ा सभ्य माना जाता है। लबा मार कर हार-जीत की बाजी का निर्णय होता है, लेकिन हिन्दी के अखाड़े में किसी भी भांति चित्त करना ही एकमात्र उद्देश्य हो जाता है। चतुर्वेदी जी की सरलता ने आलोचना के जिन प्रयोगों की परिपाटी चालू की है उसका विश्लेषण होने पर रहस्यों का उद्घाटन होगा। मैं तो बस इतना ही कह सकता हूँ कि उग्र और प्रसाद के सबध में जो कुछ उन्होंने किया है उससे दोनों के हृदय और मन पर गहरी चोट पड़ी थी। एक तो वीर की भाँति उपेक्षा करता हुआ चला गया, दूसरा राजधानी में अभी तक चैन की बंसी बजा रहा है। चतुर्वेदी जी के इन कृत्यों ने हिन्दी साहित्य का कितना परिष्कार हुआ है इसका तो विचारशील लोग ही निर्णय करेंगे।

इन दोनों आन्दोलनों की अन्तिम आहुति देकर चतुर्वेदी जी ओरछा में साहित्य साधना में लीन हुए थे, वहाँ से फिर दिल्ली की शरण में जाना पड़ा। इन दिनों आप अपने रूसी तीर्थयात्रा का संस्मरण पत्रों में प्रकाशित करा रहे हैं जो किसी दिन हिंदी साहित्य के इतिहास में चतुर्वेदी जी को अमरता का मान देगा।

निराला

निराला जी का अक्खड़पन सभी को खटकता है। वह अपने सामने किसी को कुछ नहीं समझना चाहते, किन्तु प्रसाद जी के प्रति उनका वैसा भाव मैंने कभी नहीं देखा। वह प्रसाद के व्यक्तित्व और साहित्य के प्रति सदैव ही हृदय में सम्मान का भाव रखते थे। प्रसाद जी उग्र की प्रचण्डता की उपेक्षा नाक सिकोड़कर कर देते थे, लेकिन निराला की विचित्रता पर मुस्करा देते थे। निराला स्वयं इसे समझ जाते थे। निराला के प्रति प्रसाद का आन्तरिक सम्बन्ध था। अतएव उनकी उखड़ी बातों को भी वह सुन लिया करते थे।

निराला जी एक बार महात्मा गांधी से मिले थे, उस सम्बन्ध में अपने एक पत्र में उसका हवाला देते हुए उन्होंने लिखा है—'बनिया कुल-कुटुम्ब-मणि महात्मा गांधी ने जब मुझ से कहा था—मैं तो उथला आदमी हूँ। मैंने जवाब दिया था—हम लोग उथले को गहरा और गहरे को उथला कर सकते हैं।' इसी से समझा जा सकता है कि [illegible] के सामने बड़े व्यक्तित्व के सम्मुख जब निराला अपनी उस [illegible] तो फिर [illegible] [illegible]।

लेकिन दूसरे वनिया-कुल-साहित्य-देवता प्रसाद की रुचि-अरुचि पर निराला अवश्य ध्यान देते थे। वह उनका आदर करते थे अतएव अपनी इस स्वाभाविकता के वेग में प्रसाद की ओर देखकर वह खुद ही खिलखिला उठते थे। इसका मतलब होता था कि तुम्हारी अरुचि को समझते हुए भी मैं लाचार हूँ।

निराला और पन्त के साहित्यिक झगड़े में भी प्रसाद अस्पष्ट रूप से निराला के साथ थे। इसका यह अर्थ नहीं था कि प्रसाद, निराला के सभी पक्षों का समर्थन करते थे। निराला के आक्रमण से पन्त घबरा उठे थे। हिन्दी-संसार में पन्त और निराला का यह साहित्यिक-द्वन्द्व बड़ा जोरदार रहा। १९३६ ईसवी में प्रकाशित 'भारत' के एक अंक में 'निवेदन' शीर्षक देकर पन्त जी लिखते हैं—

"यदि केवल साहित्य ही निराला जी का उद्देश्य है, स्पर्धा नहीं, तो निराला जी अनेक रचनात्मक कृतियों से साहित्य भण्डार भर सकते हैं, जिससे पाठकों को वास्तविक तृप्ति होगी। व्यर्थ में एक सीधी बात को टेढे रूप में देखकर दूसरों में भी दृष्टि-भ्रम फैलाने से फायदा? .. 'वर्तमान धर्म' के ढंग के अनेक उत्पात-उपद्रव वह अपने स्वभाव से विवश हो हिन्दी-साहित्य में कर चुके हैं .. मेरा तथा हिन्दी के पाठकों का उनकी प्रतिभा पर एकान्त विश्वास है। पिछली बार भी मैंने लिखा था और अब भी उसे दुहराता हूँ कि हमें आगे ऐसे क्षुद्र विवादों में नहीं पड़ना चाहिये।"

वास्तव में निराला की वह द्वन्द्व-प्रकृति चारों ओर दिखाई पड़ती है— जीवन, साहित्य और समाज सब में ही। 'प्रसाद' के बाद प्रश्न यह उठा कि पन्त बड़े हैं या निराला? इसलिए एक स्पर्धा जग उठी। निराला ने साहित्य में अपनी विद्वत्ता का प्रदर्शन किया। यही कारण

था। अपने एक पत्र में पन्त को निराला खुद लिखते हैं—'मेरा आप का हिन्दी साहित्य के इतिहास में अभिन्न सम्बन्ध है। मुझे बड़ी सफलता हुई, मैं समझता हूँ।

'··हिन्दी बड़ी गरीब है, कवि कल्पना से बड़ा धन साहित्य में और नहीं।'

भाषा का प्रश्न लेकर निराला ने जितना द्वन्द्व किया है, उतना किसी अन्य हिन्दी लेखक ने नहीं किया है। वह खिचड़ी भाषा का सदैव ही विरोध करते रहे। इस सम्बन्ध में उनके और प्रसाद जी के विचार समान थे। काशी में २८ वें हिन्दी साहित्य-सम्मेलन के अवसर पर साहित्य परिषद के सभापति की हैसियत से जो उन्होंने भाषण किया था वह कितना विद्वत्तापूर्ण था इसे सभी ने स्वीकार किया था।

अपना भाषण आरम्भ करते हुए उन्होंने कहा था—'उस्ताद केदारा सिखा रहे थे, कहा—यह शेर की चाल चलता है—'ग' से 'म' न, फिर 'प' से दूसरे 'ध' पर। मुझे शार्दूल-विक्रीडित याद आया। हिन्दी साहित्य इसी चाल से चला है एक साथ दो-दो पर्दे पार करता हुआ। पहली छलाँग भरी तब भाषा की लड़ाई थी, दूसरी भरी तब साहित्य की। अब उसके राग का रूप तैयार हो गया है।'

कहना न होगा कि पद्य या गीतों के लिए उपयुक्त रागों का निरूपण हिन्दी में जैसा निराला ने किया है वैसा किसी आधुनिक अन्य कवि ने नहीं। उन्हें संगीत का ज्ञान है इसीलिए वे इस ओर भी सफल हुए। जिन लोगों ने उन्हें गाते हुए सुना है वे इसका अनुभव कर चुके हैं।

प्रसाद के सम्बन्ध में उनका अभिमत [illegible] सार्थक है, लेकिन—
'[illegible] साहित्य [illegible] ऐश्वर्य नहीं है, [illegible] है, [illegible] अधिकार। [illegible] हुई है, [illegible] लोग [illegible]

नहीं।' जब उन्होंने यह लिखा था उस समय कौमी बंटवारा नहीं हुआ था। चमार बराबरी पर न बैठते थे।

वह हिन्दी साहित्य के महाकवि ही नहीं एक सिद्ध दार्शनिक भी हैं। जीवन के थके पहर में सभी काम धन्धों से छुट्टी लेकर वह एकान्त में बैठे केवल विचार ही करते रहते हैं। आज से तीस वर्ष पहले उन्होंने अपने एक पत्र में मुझे लिखा था—'मैं विशेष कुछ लिखता-पढ़ता नहीं। सोचा जरूर करता हूँ और कदाचित् औरों से ज्यादा और हर बात पर।' आगे चलकर जीवन में कटु अनुभवों की गठरी बांधकर उन्होंने देखा कि किसी से उनका मेल बैठ नहीं सकता इसलिए एकान्त प्रिय होकर सब से छुटकारा लेकर, वह मौन चिन्तना ही उनकी चिरसंगिनी बनी और अब यही उनके जीवन का अवलम्ब है। मानव संसर्ग का प्रत्यक्ष पहलु इतना कलुषित और घृणित है कि वह उससे विमुख होकर ही जीवित रह सकते हैं और इसीलिए उन्होंने जन का त्याग किया।

निराला ने हिन्दी साहित्य के सभी अंगों की ओर पथ-प्रदर्शन करने का प्रयत्न किया है। वह नये युग के साथ नयी लहरों में बहते रहे हैं। साहित्य रूपी वृक्ष पर 'नये पत्ते' हरियाले हो उठे हैं, लेकिन हम अपने चश्मे का लेन्स इतनी बार बदल चुके हैं कि अब विदेशों ने उसके आगमन की प्रतीक्षा में ही बराबर रहा करते हैं।

मास्को से निकलने वाले 'सोवियट लिटरेचर' के जनवरी १९५७ ई० के अंक में एक लेख प्रकाशित हुआ था, जिसका शीर्षक है 'सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला—लीडिंग पोएट आफ इण्डिया।' इस लेख के लेखक 'इवगेनी चेलीशेव' ने निराला की बड़ी विद्वत्तापूर्ण वन्दना की है। १९५५ ई० में वह भारत आये थे और दिल्ली के अनेक कवि-सम्मेलनों में

के यह जीवित महाकवि किस गन्दे वातावरण में अपनी फटी रजाई से रुई के पहलों को उड़ा रहे हैं। फिर भी जहाँ अध्ययन का प्रश्न रहता है उसके अनुसार उन्होंने निराला की अधिकाश रचनाओं का पठन-मनन करके ही यह लेख प्रस्तुत किया है। इसमें उनकी ६ ७ कविताओं का भावार्थ भी अंग्रेजी पद्य में उपस्थित किया है। इसे पढकर विश्वास होता है कि उन्होंने निराला को समझने का प्रयत्न किया है।

निराला की छायावादी कविताओं से लेकर गजल और प्रोग्रेसिव रचनाओं का विवरण उस लेख में मिलता है। लेख के अन्त में उन्होंने बतलाया है कि निराला की बहुत सी कविताओं का अनुवाद रूस में प्रकाशित हुआ है। कुछ मास्को रेडियो से भी सुनाई गई हैं और शीघ्र ही भारतीय कवियों का एक कविता-संग्रह प्रकाशित होने वाला है जिसमें निराला को विशेष स्थान दिया गया है और इस समय उनकी कई गद्य रचनाओं का भी अनुवाद हो रहा है।

प्रसाद मेरे गुरु थे, निराला मेरे मित्र हैं।

अंग्रेजी साहित्य के इतिहास में वह शताब्दी ही चमक उठी है जिसने बायरन, शेली और कीट्स ने जन्म लिया था। उस युग की गाथा सुनकर ही रोम-रोम पुलकित हो उठते हैं। ठीक उसी तरह हमारे हिंदी के ये तीन महाकवि भी हैं।

अपने युग का स्रष्टा एक होता है—वाल्मीकि, होमर, शेक्सपियर अथवा हरिश्चन्द्र की भाँति। फिर होमर के बाद इस्काइलस, सॉफोक्लीज और युरिपिडीज, इन तीन दुखान्त नाटककारों ने [illegible] का निर्माण किया। शेक्सपियर के बाद बायरन, शेली, कीट्स ने [illegible] की [illegible]। [illegible] भारतेन्दु के बाद प्रसाद, पन्त, निराला ने हिन्दी के [illegible] किया।

निराला का व्यक्तित्व तीनों में अधिक प्रभावशाली है। उनकी वाणी में वह चमत्कार है जो सुनकर ही कोई अनुभव कर सकता है। वह टकराते हुए मेघों का गर्जन, वह काव्य की आत्मा की पुकार सुनकर मानव चैतन्य हो जाता है, वह आवेश में झूमने लगता है। कवि रुदन नहीं करता, उसकी हुँकार समस्त वायुमण्डल में गूँज उठती है।

आज हिन्दी जगत् में यह प्रचलित है कि निराला जी पागल हो गये हैं। अतएव उनके सम्बन्ध में कुछ लिखने के पहले मैं इस शंका का समाधान करना चाहता हूँ।

मैं १९२६ ई० से 'निराला' को जानता हूँ। जानता ही नहीं बल्कि उनके बहुत निकट रहने का मुझे अवसर मिला है। उनके जीवन की सभी प्रमुख घटनाओं से मैं परिचित हूँ। मैंने उनके चरित्र का जो अध्ययन किया है उसके अनुसार मैं जानता हूँ कि निराला जी को समस्त जीवन द्वन्द्व करना पड़ा है। जिन्दगी से ही नहीं, साहित्य के मैदान में भी वह बराबर लड़ते ही रहे हैं। वह एक ऐसे सेनापति हैं जो अपनी पराजय पर कभी विश्वास ही नहीं करते। भावावेश में बोलते-बोलते स्वर ऊँचा हो जाता है, आँखें चढ़कर रङ्गीन हो उठती हैं। हाथ हिलाते हिलाते जब मुट्ठी बाँध लेते तब शक्ति और बल की आजमाइश होती थी। वह कहते—'हाथ मिलाओ, जरा घुमाकर देखो'—तब किसी का साहस नहीं होती जो उनसे पंजा लगा पाता। उन्हें अपने शारीरिक बल पर गर्व था।

बचपन से उन्हें कसरत करने का अभ्यास था। १६ वर्ष की अवस्था में उनका कद ५ फुट ६ इंच का था। उनका व्यक्तित्व अपने आप अपनी ओर खींच लेता था। लम्बे केश, लम्बा गठा शरीर, चमकीली और बड़ी आँखें अपने आवेश में उन्मत्तता का स्वरूप धारण कर लेती थीं। ऊँचा स्वर और गर्वीली बातें विशिष्टता से मैत्री कर चुकी थीं। लोग देखकर चकित

हो जाते, पूछते कौन हैं? उत्तर मिलता—कवि हैं, हिन्दी में बेतुके छन्द के स्रष्टा, निराला।'

इस बेतुके छन्द की परिभाषा बड़ी विस्तृत और तर्कपूर्ण है। उसकी गति स्वच्छन्द है और किसी नियम से बन्धनहीन होकर उसका जन्म हुआ है। संसार के सभी साहित्यों में नवयुग की सूचना होकर उसका पदार्पण हुआ है। हिन्दी में प्रसाद ने पहले इसका प्रयोग किया, लेकिन पाण्डेय जी दबी जबान से कहते थे कि इसे मैंने ही चलाया है। लेकिन मैं कहता हूँ कि निराला के नाम से ही इसने हिन्दी में अपने को सार्थक किया। अधिकांश लोग समझ न पाये, उन्हें कवि और कविता सब बेतुकी ही मालूम पड़ी। इसलिए निराला को लोगों ने अपनी कहने का अधिकार ग्रहण कर लिया।

नगर से पैसों की अपील करने पर कुछ हाथ भी लगा। बड़े ठाट से अभिनन्दन ग्रन्थ के फर्में छपने लगे।

हजारों के हिसाब ने निराला को केवल एक अभिनन्दन ग्रन्थ ही भेंट किया, बाकी कुछ उनके हाथ न लगा। सजातीय, शिष्य और प्रशंसकों ने ताली पीट कर उनकी वन्दना की, निराला उछल कर कई फुट अपने जोश में उन्मत्तता के पथ पर और भी आगे बढ़े। कुछ ही समय बाद जब फिर होश में आये, हिसाब-किताब के ब्यौरे की जाँच पड़ताल हुई तब ताली पीटने वाले दल ने मुट्ठी बाँध ली। बेचारे निराला फिर अपने को अकेला पाकर सांस्कृतिक नगर काशी से अपनी खैनी (सुर्ती-चूना) फटफटाते दारागंज के अखाड़े में पहुँचे। पडों ने देखा जजमान के पास तो भूसी-दक्षिणा तक के पैसे भी नहीं हैं। 'गोदान' तो दुर्लभ-असम्भव है। एक कलाकार चित्रकार ने उनको अपनी ओर खींचा। उसके यहाँ कोई सुख साधन न था फिर भी फूस की झोपड़ी ही गहरी मकान के बाद आश्रय का कारण बनती है। निराला वहीं दम भरने लगे। ऊपर आकाश नीचे पृथ्वी। इस समस्त भूलोक में अपनी माता-पिता-पत्नी-पुत्री सब की तिलांजलि और तर्पण वह कर चुके थे। एक पुत्र! वह भी अर्थाभाव में भटकता रहता! फिर? कोई अवलम्ब नहीं।

एक दूसरी कवयित्री निराला को वरदान के रूप में मिलीं। हिन्दी साहित्य संसार में 'निराला की सहायता' की गूँज हो उठी। केन्द्र और प्रांतीय सरकारों के द्वार खटखटाये गये। साहित्यकारों की संसद नगरी तपोभूमि में महाकवि निराला का स्वागत हुआ। राष्ट्र और संयुक्त राष्ट्र के महाकवियों का आशीर्वाद प्राप्त कर संस्था की कार्यप्रणाली चालू हुई। अनेक ग्रन्थ बने। जमघट हुआ। देश-विदेश में प्रचार हुआ। शंख बजा। कथा समाप्त हुई। यारों ने मोतीचूर मारा और निराला जी के हाथ सनामा

ही लगा। पचामृत का आचमन लेकर फिर निराला ने पलायन का साथ पकड़ा। पंडों ने फिर पीछा किया, निराला ने अपनी कथरी गुदड़ी वहीं दे पटकी। उन्होंने तुलसीदास की वन्दना की और 'अब लों नसानी अब ना नसैहों' का राग बैठाने लगे। अन्तरा में स्वर क्षीण होने लगा। तब उन्होंने कहा—'मुश्क, हिना रह !' कोई समझ न पाया। दूसरे दिन अपना कम्बल वह किसी पथ भिखारी को अर्पित कर आये। लोगों ने चकित होकर देखा यह क्या ?

वेदान्त की व्याख्या होने लगी। ब्रह्म फिर विजयी हुआ। अन्धकार में भी प्रकाश दिखायी पड़ा। महाकवि बोल उठा—'भागो-भागो ओ हाड़ मांस के पुतलो, तुम क्या जानो वन्दना के गीत।' भयभीत होकर कुछ लोग चिल्लाते हुए बाहर निकले—अरे यह पागल महापागल अब होश के बाहर चला गया।

और बरस उठा सोने का संसार। इक्कीस सौ की सरकारी गड्डी खनक उठी।

महाकवि ने हमें घेरते हुए मुन्शी जी के पुत्र की ओर संकेत किया।

यह पहेली अनबूझी प्रतीत होने लगा तब उग्र ने लिखा 'होशियार पागल' और दो उदाहरण पेश कर दिये। लेकिन वह पागल की होशियारी नहीं थी, कवि की झुंझलाहट थी।

यश और स्वार्थ की लोलुपता [illegible] कोई [illegible] कर सकी। ऐसी परिस्थितियाँ [illegible] होकर [illegible] वेदान्तिक [illegible] लगा नहीं। [illegible] गुनगुनाते [illegible] रहे। [illegible] हो उठते। [illegible]

विजय लक्ष्मी पण्डित की चर्चा में कोई वास्तविकता और सत्य की परिभाषा न कर पाते, लेकिन इनके सम्बन्ध में उनके विचारों की ग्रंथियाँ बड़ी जकड़ी हुई थीं। उन्हें खोलने का किसी को साहस न हुआ।

प्रयाग का यह परिवार विश्व की सर-आँखों में समाया हुआ है। देश, भाषा और निराला का भविष्य भी पण्डित नेहरू के इशारे की प्रतीक्षा में बैठा था। जीवन में एक बार चलती ट्रेन में पण्डित नेहरू से बात करने का सौभाग्य निराला को प्राप्त हुआ था। यह भी निराला जैसे व्यक्ति का ही साहस था कि अपने डब्बे से हटकर वह इटर के एक कम्पार्टमेंट में जा घुसे, जिसमें केवल पण्डित नेहरू और आर० एस० पण्डित बैठे थे। अब आप उन्हीं के शब्दों में वहाँ का विवरण पढ़िये—

'पंडित जवाहरलाल जी उसी बर्थपर आकर बैठे। एक मिनट तक वह मुझे देखते रहे। मैं चुपचाप बैठा रहा। मेरे सरपर एक टोप था, जिसे मकी कैप कहते हैं। बचपन में ऐसे पहनावे से मुझे भी हसी आती थी। मुझे मोहम्मद की बात याद आयी, 'पहाड़ मेरे पास नहीं आता तो मैं पहाड़ के पास जाऊंगा।'

भाषा के सम्बन्ध में अनेकों प्रश्न प्रस्तुत करते हुए जब निराला जी ने ध्यान से नेहरू जी की ओर देखा तो उन्हें मालूम पड़ा कि उस सम्बन्ध में वह कोई उत्तर नहीं देना चाहते। तब निराला जी ने समाजवाद पर दूसरा प्रसग छेड़ा—'नये विचार, नये परिवर्तन, नया उत्कर्ष जब तक नहीं होगा, अच्छे नाटक और उपन्यास लिखे भी नहीं जा सकेंगे।'

पंडित जी ने रूस का उदाहरण दिया।

निराला जी ने रूस और भारत में अन्तर समझाते हुए बतलाया—'यहाँ सुधार ज्ञान से हुआ है। एक हिन्दू-मुसलिम समस्या को लीजिये।

मैं समझता हूँ, इसका हल हिन्दी के नये साहित्य में जितना सही पाया जायगा राजनीतिक साहित्य में नहीं। इसका कारण है राजनीति प्रभावित है पश्चिम से, साहित्य मौलिकता से पनपा है। ब्रह्म ,

पण्डितजी—ब्रह्म क्या?

'ब्रह्म शब्द से नफरत की कोई बात नहीं हो सकती। ब्रह्म का मतलब सिर्फ बड़ा है, जिससे बड़ा और नहीं। किसी को ब्रह्म देखने के अर्थ हैं, उसके भौतिक रूप में ही नहीं—सूक्ष्मतम आध्यात्मिक, दार्शनिक, बृहत्तर रूप में भी देखनेवाले की दृष्टि प्रसारित है। पण्डितजी, मैं अगर आप में ब्रह्म देखूँ, तो आप मेरी दृष्टि में बड़े होंगे या बहत्तर दफा नेशनल कांग्रेस 'प्रिज़ाइड' करने पर?'

पण्डितजी चुप। आर० एस० पण्डित गौर से मुझे देखते रहे।

फिर निराला जी ने और प्रकाश डाला। इसके बाद वह प्रसंग छिड़ा जब काशी में पण्डित जी ने साहित्यिकों की मण्डली में कहा था—'हिन्दी में दरबारी ढंग की कविता प्रचलित है।'

निराला जी ने अपना हार्दिक दुःख प्रकट किया। उन्होंने महात्मा गांधी, सुभाष बाबू, महाकवि रवीन्द्र का उदाहरण उपस्थित करते हुए कहा—हमारे यहाँ आप की तरह के व्यक्ति होते हुए भी साहित्य पर नहीं हैं। आप भी समझिये कि इनके बीच आपका दरबारी कवियों का उल्लेख किया हास्यास्पद हो गया है। उन्होंने आप के सम्मान के लिए बुलाया था इसीलिए आप के विषय में कुछ नहीं कहा।

आगे निराला जी ने अपने स्वाभाविक उत्तेजित [illegible] कुछ [illegible] कहा, [illegible] अतिरिक्त [illegible] व्यक्ति [illegible] साहस [illegible] नहीं [illegible] पर [illegible] था।

उन्होंने कहा—"[illegible]

भूलता नहीं, अपने सभापति के अभिभाषण में शरतचन्द्र के निधन का जिक्र करते हैं, वहीं क्या वजह है जो आप की जुबान पर प्रसाद का नाम नहीं आता—मैं समझता हूँ आप से छोटे नेता भी सुभाष बाबू के जोड़ के शब्दों में कांग्रेस में प्रसाद जी पर शोक-प्रस्ताव नहीं कराते। क्या आप जानते हैं कि हिन्दी के महत्त्व की दृष्टि से प्रसाद जी कितने महान् हैं।

कुछ देर बाद अयोध्या स्टेशन आ गया।

मैं उठा, पंडित जवाहरलाल कुछ ताज्जुब से जैसे मेरा आकार-प्रकार देखने लगे फिर जैसे कुछ सोचने लगे। मैंने कहा, पंडित जी! आवाज गम्भीर, भ्रम समझने वाले के लिए कुछ हेकड़ी-सी लिये हुए। जवाहरलाल ने हृष्ट होकर देखा। मेरी निगाह आर० एस० पंडित की तरफ थी, उन्होंने निगाह उठाई। मैं नमस्कार कर दरवाजा खोल, बाहर निकल आया।"

अब मैं पूछता हूँ कि निराला को पंजाबी कुर्ते पर पूरी बाहवाली रुई की सदरी और सर पर मंकी कैप के रूप में देखकर पंडित जी ने क्या समझा होगा और फिर हेकड़ी-सी मुद्रा कैसा प्रभाव उत्पन्न करती है। चाहे वह कितनी ही विद्वत्तापूर्ण बातें ही क्यों न हों।

इस विस्तृत उद्धरण को देने का मेरा तात्पर्य यही है कि निराला के मस्तिष्क में नेहरू-परिवार का क्या प्रभाव है।

इसी लेख में निराला जी ने प्रकट किया है कि बहुत सी ऐसी बातें हैं जिन पर नेहरू जी से मिलकर बातचीत की जाय, लेकिन चुप रहकर जो कुछ लिखते बने, लिखना ज्यादा अच्छा है।

उस भेंट के बाद फिर दूसरी बार निराला जी नेहरू जी से मिलने गये। किसी कारण वश नेहरू जी के व्यक्तिगत सचिव ने मिलने का अवसर नहीं दिया। फिर बाद में नेहरू जी ने खुद निराला को बुलाया, किन्तु

फिर उनसे नहीं मिले। मनोविज्ञान के अध्ययन करने वाले भली भाँति जानते हैं कि इस चुप रहने का परिणाम मस्तिष्क में कितना गहरा प्रहार करता है?

कई वर्ष हुए पिछली बार जब निराला जी से भेंट करने मैं गया तो मुझे देखते ही वे एक महिला से अंग्रेजी मे स्पीच देने लगे। ऐसा मालूम हुआ जैसे मंच से खड़े होकर कोई भाषण कर रहा है। उन्होंने कहा—'यू सी हियर इज माई फ्रेण्ड विनोद शंकर व्यास, वन आफ दि पिलर्स आफ हिन्दी लिटरेचर।' इसके बाद मेरे खाने के लिए किसी विशेष वस्तु के बनाने के लिए कहा। मैं बहुत देर तक बैठा रहा। बहुत सी बातें हुईं। कभी कभी उनका स्वर उत्तेजित हो जाता, आँखें चढ़ जातीं, बदबुदाने भी लगते, लेकिन पागलपन की कोई ऐसी बात मुझे नहीं दिखाई पड़ी।

बाद में भी जब उनका दर्शन करके प्रयाग से कोई साहित्यिक आता तो उनका समाचार मिल जाता। उनकी आकृति देखकर भयभीत होकर ही अधिकांश दर्शक उन्हें पागल समझ बैठते थे। ऐसे ही एक सज्जन ने बतलाया कि उनके पूछने पर मैंने कहा कि मैं निराला का दर्शन करने आया हूँ। इसके उत्तर में उन्होंने कहा—'निराला यहाँ नहीं' और फिर मुस्कुराते हुए कहा—'अच्छा जाओ।' और वह डरकर चले आये कि पल भर न रुके।

उग्र

अपने जीवन के अल्हड़ उल्लास में हम दोनों ने एक प्रतिज्ञा की थी—दोनों में से किसी एक की मृत्यु होने पर दूसरा शोक कैसे मनायेगा ?

'उस दिन नगर की गायिकाओं का जशन होगा और रात भर खूब ढलेगी, ऐसी कि जिसमें सब कुछ भूल जाय।'

यह उस समय की बात है जब ख्याति की पगड़ी बांधकर हिन्दी साहित्य के मञ्च पर न उग्र ही खड़े थे और न मैं ही। उस समय काशी महा नगरी की आँखें चकित होकर हम दोनों की ओर देखती थीं लोग आश्चर्य और विस्मय से परिचय की जिज्ञासा मन में लिये सड़क से अपने घर चले जाते थे। किसी को परिचित होने का साहस भी न होता था। क्योंकि उग्र की उग्रता से भयभीत होकर लोग दूर हट जाते थे।

इस विस्मय के कारण हम दोनों की आकृति सड़कों पर परिचित सी जान पड़ने लगी थीं, तब नाम और कुल की ओर लोगों का ध्यान न गया था। युवक पग बढ़ाकर समीप आने का प्रयास करते और बूढ़े मुंह बिचका कर मोड़ से घूम जाते थे।

'उग्र' मेरे युवाकाल के पहले साहित्यिक साथी हैं। असहयोग आन्दोलन के दिन थे। नगर भर में बायकाट का स्वर गूंज रहा था।

स्कूलों में भी शिक्षा का विरोध चल रहा था। विद्यार्थियों के अगुआ बनकर उग्र ने स्कूल की पढ़ाई छोड़ दी थी। उस समय महाकवि 'हरिऔध' के भाई श्री गुरुसेवक उपाध्याय हिन्दू स्कूल के हेड मास्टर थे। उनके पीछे 'उग्र' इतने पड़ गये थे कि 'हा गुरुसेवक की कानी यह भापे बने न बने बिनु भापे' की ध्वनि आजतक मुझे स्मरण है। 'उग्र' ने खद्दर धारण किया। असहयोग आंदोलन में भाग लिया। मैं भी कभी उनके साथ देहातों में जाता। सभा होती। उग्र भाषण देते। उन दिनों स्वर्गीय गणेश शंकर विद्यार्थी के दैनिक 'प्रताप' में 'पाँगली गिलजा' जैसा अग्रलेख प्रकाशित होता जिसे पढ़कर रक्त में बिजली दौड़ने लगती।

नौकरशाही के विरुद्ध युद्ध छिड़ा था। 'उग्र' ने पूरबी के धुन के अनेक गीत बनाये। बनारस के प्रेस उसे छापने के लिए तैयार न होते, बड़ी कठिनाई से उन्हें मैं छापा कर प्रचारित करता। उसका एक गाना भूली नहीं है—'याको अंग्रेज रजवा कटारी मारे ना। दन दन ननवा हरजनी जरमनवा सा निहारे मारे ना।' अन्त में परिणाम यह हुआ कि 'उग्र' जेल गये। मैं शनिवार को सेण्ट्रल जेल उनसे मिलने जाया करता था। वहाँ पर भी वह मस्त दिखलाई पड़ते थे।

लिए ही विधाता ने उनकी रचना की है। जीवन भर उनका मेल किसी से बैठा नहीं। असन्तुष्ट रहना और विरोध करना यही जैसे उनका स्वभाव हो गया है। कठिनाइयों के आक्रमण से कभी वह तिलमिला गये हैं, लेकिन पराजित नहीं हुए हैं। इसका सब से बड़ा कारण यह भी रहा है कि जीवन भर वह बन्धन में कभी नहीं जकड़े। अविवाहित रहने के कारण जिम्मेदारी के बोझ को वे सदैव ठुकराते ही रहे। यह बात नहीं है कि उन्होंने अपने परिवार की ओर ध्यान नहीं दिया। मैंने देखा है कि अपने घर में सब को सुखी और सन्तुष्ट देखने का अभ्यास आरम्भ में उग्र ने भी किया जैसा मानव प्रकृति में स्वाभाविक होता है। अपने उपार्जित पैसों को एकमात्र अपनी ही व्यवस्था में खर्च नहीं किया, कभी-कभी परिवार की आवश्यकताओं की भी पूर्ति करते रहे। कलकत्ता, बम्बई और अन्य नगरों से मनिआर्डर वह प्राय घर भेजते रहे।

अपने घर वालों को छोड़ कर उन्होंने उदारता—जहाँ तक मैंने देखा है—किसी के साथ नहीं की है। सहानुभूति होने पर भी असमर्थता के कारण सम्भवत ऐसा हुआ हो, नहीं कह सकता, लेकिन इतना कह सकता हूँ कि व्यवहार कुशल वे न कभी रहे न हैं। किसी से उनकी पटरी नहीं बैठी, खटपट होकर ही अन्त हुआ। यही क्रम जीवन भर चलता रहा। परिणाम यह हुआ कि अपने-आप अपनी परिस्थितियों को लेकर अकेले में वह मुलझाते रहे और अन्त में सब से दूर रहकर सन्तोष का ही आश्रय उन्हें लेना पड़ा।

परिस्थितियों ने ही उन्हें सन्तोष करने के लिए विवश किया, कभी-कभी मैं ऐसा सोचता हूँ, क्योंकि किसी भी स्थिति में अन्य चन्द (उन्हीं के शब्दों में) लेखकों की भाँति उन्होंने हाहाकार नहीं किया। जब जैसा तब तैसा, चना चबाकर भी मस्त रहे। यह उनकी प्रकृति की सबसे बड़ी विशेषता है।

अपने नियम और समय के भी वे पक्के हैं। चार बजे सवेरे कर, निपट-नहा कर, छान घोट कर, वह काम करने बैठ जाते और लिखते रहते और पूरा करके ही उठते थे। लिखने की उनकी यह धारा स्वच्छन्द गति से बहती रहती थी। भाषा पर उनका आधिपत्य है अतएव कल्पना और विचारों के साथ वह वेग से चलती रहती है। पैसों की माग ने लिखने के लिए बाध्य किया। उनकी लेखनी ही उनकी जीविका का साधन है।

प्रसाद की भांति यदि साहित्य सृजन ही उग्र का ध्येय होता तो आज 'उग्र' जीते जागते विश्व-साहित्य में अपना स्थान बना लेते, किन्तु उनकी प्रतिभा का अधिकांश प्रयोग दैनिक और साप्ताहिक की ही खुराक बना। समय के साथ उनकी रचनाएँ भी विस्मृत होती गयीं। फिर भी समय आ गया है जब विश्वविद्यालय के अन्वेषकों का बहुत सा समय पत्र पत्रिकाओं की फाइल उलटने पलटने में लग जायगा।

१९१८–१९ ईसवी से उग्र ने 'आज' में लिखना आरम्भ किया। लेख, कविता, कहानी 'उग्र' के नाम से प्रकाशित होतीं और व्यंग्य 'अष्टावक्र' के नाम से निकलता था। '२४ ई० में 'भूत' उग्र की ही योजना थी। 'मेरा जर्नलिज्म' शीर्षक लेख में उन्होंने लिखा था—"उसी

हिन्दी जगत् से उसके लिए आर्डर आये। दर्जनों मित्रों के मनिआर्डर भी ''और 'हिन्दिया' न निकल सकी'''! कारण कभी फिर सुनियेगा। आज अच्छा अवसर नहीं।

बम्बई सरकार से, लाचार होकर 'गधा' नामक एक साप्ताहिक निकालने की मैंने अनुमति चाही—शायद सन् '३५ में—। और मेरे 'गधा' से भी ५०० नकद जमानत माँगी गयी। मैं कलकत्ते भागा।

'अंगूर' नामक एक सुन्दर साप्ताहिक की सूचना मेरे नाम से कलकत्ते में की गयी। मगर अंगूर भी खट्टा निकला। कारण, कभी फिर सुनियेगा।'''

और एक पत्र की मुझे सख्त जरूरत भी है, रहेगी सारी जिन्दगी। मगर, स्वभाव मेरा प्रशान्त नहीं अशान्त है''।

क्योंकि मैं दर्पण हूँ वह जिसके सामने वर्तमान अशान्त-विश्व, सदर्प ता-ता-था नाच रहा है॥

और यह अशान्त, नाशक नृत्य महामोहक मालूम पड़ता है'! क्यों? नाश से मुझे मोह क्यों?

संसार का सबसे बड़ा सत्य है नाश''!"

ऊपर दिया हुआ विवरण उनकी लेखनी द्वारा दिया गया है। अब आगे का हाल इस तरह है। फरवरी १९३८ ई० में काशी से उन्होंने 'उग्र' नाम का एक साप्ताहिक निकाला, इसके भी केवल सात ही अंक निकल पाये। बनारस छोड़कर फिर वह चले गये। १९४२ ई० में उज्जैन से विक्रम मासिक निकाला, इसमें एक दूसरे व्यास पंडित सूर्यनारायण का पूर्ण सहयोग था। इसके भी ५ अंकों का सम्पादन कर फिर वह बम्बई पहुँचे। वहाँ १९४५ ई० में उन्होंने साप्ताहिक 'संग्राम' का सम्पादन किया। बम्बई से ही १९४७ ई० में फिर विक्रम का सम्पादन करने लगे। १९४८ ई० में फिर मिरजापुर से साप्ताहिक 'मतवाला' निकालने

लगे। एक वर्ष तक वह जमे रहे, फिर वह दिल्ली चले गये। वहाँ अनेक वर्षों के बाद १९५६ ई० में 'हिन्दी पंच' का पाक्षिक रूप प्रकट हुआ, इसका पाँचवाँ अंक प्रेस में ही रह गया और वह उससे अलग हो गये। फिर हिंदी पंच का भी अन्त हो गया।

इस तरह अपने स्वभाव के कारण कहीं भी ऐसा सुयोग नहीं बैठा कि उग्र स्थायी रूप से कार्य कर सकें। कहीं भी उनके अनुकूल स्थिति नहीं बन पायी, इसके मुख्य कारण मेरी बुद्धि के अनुभव से तीन हैं—पहला उनका अशान्त स्वभाव, दूसरा उनकी अव्यावहारिकता और तीसरा कटु सत्य। इन तीनों की घनिष्ठता वे न छोड़ सके और इन्हीं तीनों ने उनकी असफलता से मित्रता का गठबन्धन किया।

अपने अशांत स्वभाव के सम्बन्ध में वह स्वयं स्वीकार करते हैं। व्यवहार में वह इस तरह हैं ऐसे कि दूसरा कोई उनके लिए चाहे जो कुछ भी करे लेकिन अपनी सहृदयता से उसके प्रति वह कभी भी कुछ ध्यान नहीं दे सकते। उनके ४० वर्ष के संसर्ग में मैंने यही अनुभव किया है। मैं ही एक ऐसा व्यक्ति हूँ जिससे इतने निकट रहकर भी कभी उनसे अनबोला नहीं हुआ है। तर्क हुआ है, मतभेद रहा है लेकिन ऐसी स्थिति कभी नहीं हुई है कि एक दूसरे को देखकर मुँह घुमाकर हट जायँ।

युवावस्था से उग्र में यह सबसे बड़ी विशेषता रही कि वह कभी बातें बनाना नहीं जानते थे। जो कुछ मन में आया झट से कह देते थे, उसका क्या प्रभाव दूसरे के ऊपर पड़ेगा इसका विचार करने का अभ्यास उन्होंने कभी नहीं किया। अपने गुरु [illegible] जी से लेकर [illegible] तक उन्होंने इस कटु सत्य का प्रयोग किया। उनको [illegible] की [illegible] न [illegible] था। जितने भी लोग जानते हुए, देखते हुए भी उग्र जी को [illegible] नहीं चाहते ऐसा मेरा अपना अनुभव है।

'उग्र' के चरित्र की सबसे अधिक विशेषता यही है कि वह अपने दिल में मैल नहीं रख सकते। मन में दबाकर ऊपर से बनावटी बातें नहीं कर सकते। नीति के मोहरों से खेलने का अभ्यास उन्होंने कभी नहीं किया और यही एक कारण है कि वह मेरे हृदय के सदैव निकट ही रहे और इसी निकटता के कारण कुछ समय के लिए प्रसाद और निराला से भी मुझे दूर रहना पड़ा है।

उग्र की प्रतिभा और शक्ति का बहुत बड़ा दुरुपयोग 'चाकलेटी' आंदोलन में भी हुआ है। इसे तो पण्डित बनारसीदास चतुर्वेदी ही जानते हैं। इस आन्दोलन ने लेखक के व्यक्तिगत जीवन और चरित्र को भी भ्रष्ट मान लिया है और प्राय लोग चाकलेट के रचयिता को चरित्र हीन होने का प्रमाण दे देते हैं। लेकिन ऐसे लोग भ्रम में हैं। 'उग्र' का चरित्र जितना उज्ज्वल है वैसे विरले ही प्रत्यक्ष देखने में आये। इतने दिनों के साथ में एक उदाहरण भी मैं ऐसा नहीं दे सकता जिसमें उनके पतन का परिचय मुझे मिला हो। बल्कि इसके विपरीत कई घटनाएँ ऐसी हैं जब कि उन्हें अपनाने के प्रयत्न में कई अभिनेत्री और पात्री विफल हुई हैं।

'उग्र' की दूसरी मौलिकता सर्वविदित है कि वह जरा-सा झुकने पर बड़ी सफलता अपनी मुट्ठी में बाँध लेते, लेकिन वह खुले हाथ फटकारते ही रहे। उनसे सुलह-समझौते का अवसर विमुख होकर भटकने लगता है।

प्रसाद और उग्र के साहित्यिक लक्ष्य में अन्तर है। 'उग्र' का कहना है कि 'महात्मा ईसा' लिख कर जीवन भर फाकाकशी करके ही रहना पड़ता और प्रसाद का कहना था कि रोगग्रस्त होकर भी 'कामायनी' पूर्ण करना अत्यन्त आवश्यक है। मेरा कहना यह है कि प्रसाद की स्थिति में उत्पन्न होकर यदि उसी लक्ष्यपर उग्र रहे होते तो वह प्रसाद से कम

इतिहास में भाषा की दृष्टि से अकेले उग्र हैं, जिन्होंने समस्त राष्ट्र की भाषा का स्वरूप निर्मित किया है।

प्रसाद स्वयं उग्र की प्रतिभा के प्रशंसक थे। उग्र भी उनका सम्मान करते थे। सब को खरी खोटी सुनाते हुए उन्होंने प्रसाद की किसी भी रचना को अपनी कसौटी पर कसने का साहस नहीं किया। मतवाला के लिए प्रसाद जी से कुछ लिखवाने का आग्रह उग्र मेरे ही द्वारा करते थे। मेरी फाइल में जो पत्र हैं, उनसे पता चलता है।

मतवाला,

कलकत्ता

१३-८-१९२९

७-९-२७ प्रसाद जी को नमस्कार।

७-१२-२७ प्रसाद जी को सलाम।

५-३-२८ प्रसाद जी से मेरा सादर सलाम बोलो।

प्रसाद जी से बिछुड़ जाने पर मतवाला में 'उग्र' ने उनके ब्लाक के ऊपर शीर्षक लगाया था—जब हम नहीं रहेंगे तब याद करोगे। इस एक लाइन में ही एक उपन्यास या महाकाव्य से कम दर्द नहीं है।

मृत्यु के देवता भगवान शंकर ही हमारे आराध्य देव हैं। उग्र ने भी नत मस्तक होकर उनकी वन्दना की है और काशी में उनके द्वार से लौटकर वह मेरे यहाँ ही आते हैं।

तीन वर्ष हुए उग्र का एक कार्ड मिला था, जिसमें वही प्रतिज्ञा की बात पूछी थी कि उसे भूल गये या अब तब याद है?

चालीस वर्ष हुए।

तब से अब?

स्वतन्त्र भारत में नशाबन्दी की कड़ी जञ्जीरें जकड़ी हैं। गायिकाओं का समाज भी कानूनी बन्धन में बंधा है। उनके अस्तित्व का ही लोप हो जायगा। अब हम दोनों की इस प्रतिज्ञा में भी कुछ परिवर्तन की सूचना समय दे रहा है।

अपनी लेखनी की स्वतन्त्र गति से मैंने पूछा कि उग्र को क्या उत्तर दूं?

वह कुछ न लिखकर अभीतक रुकी हुई, रूठी हुई मौन बैठी है।

अन्त क्या होगा विधाता जाने!

शिवपूजन सहाय

जिसके लिखे व्यंग्य पर लोग खिलखिला उठते थे, उसकी जीवन कहानी कितनी व्यथा और आपत्तियों से घिरी हुई थी, यह सभी नहीं जानते थे। 'मतवाला' के प्रकाशन के साथ ही शिवपूजन सहाय हिन्दी में चमक उठे। यों पहले वे कलकत्ते के साहित्यिक बाजार में अपना दिन व्यतीत कर रहे थे और अपने पथ प्रदर्शक ईश्वरी प्रसाद शर्मा के साथ वहीं अपनी जीविका का उपार्जन करते रहे। 'मतवाला' निरन्तर पढ़ने के कारण शिवपूजन जी के प्रति उत्सुकता मेरे मन में जाग उठी थी। काशी में उनसे साक्षात् होने पर निरन्तर यह घनिष्ठता निकटतम होती चली गयी।

लहेरिया सराय के पुस्तक भण्डार के कार्य से वे काशी में ही आकर रहने लगे। पहला डेरा उनका दण्डपाणि महादेव के ऊपरवाली मकरी कोठरी में बना, जहाँ भैरवनाथ की गलियों से घूमकर जाना पड़ता था। खड़ी छोटी सीढ़ियों से चढ़कर ऊपर जाना खतरे से खाली नहीं था। दो चारपाई बिछाकर शिवजी पड़े रहते थे। ऊपर की खिड़कियों से सूर्य की किरणों का दर्शन भले ही हो जाय, लेकिन वह एक अन्धकूप-सा दरबा था। एकान्त में रहने के लिए पैसों की कमी [illegible] और [illegible] रहने के विचार ने ही उन्हें [illegible] था।

मैं उन्हें पुकारता और गली में खड़ा उनकी प्रतीक्षा करता और फिर साथ ही हम दोनों प्रसाद जी के यहाँ पहुँच जाते थे। इस तरह मार्ग मेरा लम्बा भले ही हो जाता था, लेकिन शिवपूजन का अभाव खटकता नहीं था। वहाँ घण्टों मण्डली जमी रहती थी।

शिवजी स्वभाव के बड़े सरल हैं अतएव बहुत जल्दी सब के प्रिय बन जाते हैं। उनमें अभिमान और अहंकार तनिक भी नहीं है इसीलिए सहृदयों को अपने समीप खींच लेते हैं। प्रसाद जी का बहुत निकट स्नेह उन्हें प्राप्त था। काशी में रहनेपर हम लोगों के किसी भी जमघट में शिवपूजन न हों, ऐसा कभी नहीं होता था।

शिवजी को बाबा विश्वनाथ के प्रति असीम श्रद्धा है। उन्हें देखकर सभी लोग उन्हें 'पण्डित जी' समझते थे क्योंकि मस्तकपर त्रिपुण्ड के बीच में लाल रोली का टीका किसी तान्त्रिक का महत्त्व प्रकट करता था। अपने दैनिक पूजा-पाठ में कभी उनका अन्तर नहीं पड़ता था। वे शुद्ध सनातनी विचार के हिन्दू हैं, इसमें किसी को भी कभी सन्देह नहीं हो सकता।

हम लोगों की मण्डली में शिव जी का सम्मान विशेष रूप से था। पुस्तकों के प्रकाशन और सम्पादन का कार्य वे ही करते थे। इसलिए मेरी और प्रसाद की लिखी अधिकांश रचनाओं से वे परिचित थे। उनका निर्णय ही अन्तिम समझा जाता था। प्रसाद जी जब कुछ नयी रचना प्रस्तुत करते तो शिवपूजन को सुनाये बिना उन्हें संतोष नहीं होता था।

शिव अपने चरित्र के उज्ज्वल थे, पत्नी के देहांत को अनेक वर्ष बीत चुके थे लेकिन कभी इधर-उधर दृष्टि नहीं फेरते थे। यहाँ तक कि कभी गाना सुनने के लिए किसी गायिका के घर नहीं गये। किन्तु शिवरात्रि पर प्रसाद जी के मन्दिर में गाना सुनने में कोई बाधा नहीं थी। मैंने सोचा था कि मतवाला मण्डल में रहने के कारण पीने में भी हिचक न

होगी, लेकिन शिव का कभी भी उस ओर आकर्षण नहीं था और मैंने कभी भी उन्हें पीते नहीं देखा। हाँ, भाँग बूटी के वे शौकीन थे, वह भी हलकी।

ऐसे व्यक्ति का एकाकी जीवन कितना नीरस हो सकता है, यह सहज ही अनुमान की बात है। अतएव हम लोगों का आग्रह हुआ कि शिव का विवाह हो जाना चाहिये। स्वर्गीय मुन्शी नवजादिक लाल के प्रयत्न से यह कार्य भी पूर्ण हुआ। वे समधी बने। मैं भी बरात में गया था। इस तरह शिवपूजन का एक नया जीवन आरम्भ हुआ।

अब भैरवनाथ की गली में एक छोटे मकान के दूसरे खण्ड में वे सपत्नीक रहने लगे थे। मैं नीचे से पुकार कर खड़ा रहता और ऊपर आने का वे आग्रह करते। मैं प्राय गली से ही कुछ कह-सुन कर चला जाता, कभी बहुत आवश्यक होने पर ही ऊपर जाता क्योंकि वहाँ स्थान की कमी थी और सारी गृहस्थी एक ही कमरे में बिखरी पड़ी रहती थी। बैठने की भी पूर्ण सुविधा नहीं थी।

उनकी पत्नी देहाती तो थीं किन्तु पूर्ण गृहिणी थीं। बरात में जाने के कारण मैं अपरिचित नहीं था। सामने वे घूँघट काढ़े अपना काम-काज करती रहतीं लेकिन मैंने कभी उनका मुख नहीं देखा।

विवाह तो शिव जी का हो गया लेकिन वे एक भयानक चक्र में पड़ गये। एक अग्रवाल प्रेस के मालिक से उन दिनों उनका परिचय हुआ था। दोनों के विवाह के उपरान्त [illegible] हुई थी। उसका खर्च और बाजा और जो कुछ लिया दिया हो सब मिलाकर लगभग एक हजार का भुगतान शिवपूजन ने [illegible] था। आगे चलकर नालिश हुई और शिव को इतना परेशान होना पड़ा कि उनका [illegible]

पड़ता, अब उन्हीं के पत्रों द्वारा उस समय आयी हुई परिस्थिति का विवरण मैं प्रस्तुत कर रहा हूँ।

गंगा, भागलपुर
६-२-१९३१

भाई व्यास जी,

......मन्दिर को भण्डार में मिलाकर आपने अच्छा ही किया, बाबू साहब की राय मानना ही हम लोगों का कर्तव्य है, वे हम लोगों के सर्वोपरि शुभचिन्तक हैं। उनकी राय मानकर आपने बहुत अच्छा काम किया। आज कल कैसा काम चल रहा है ? उग्र कहाँ हैं ? क्या करते हैं ? कुछ खबर मिली हो तो लिखें।

मेरे जिम्मे इतना काम है कि मैं दम मारने की फुर्सत मुश्किल से पाता हूँ। इसी से पत्र में देर हुई। दूसरा कोई कारण नहीं। आपके साथ जो आनन्द मिलता है, वह कभी भूलता नहीं। बाबू साहब और आपके सत्संग का सुख अकथनीय है। आप लोगों से मिलने के लिए छटपटा रहा हूँ। दिल घबरा रहा है। फरवरी में आना है जरूर। यहाँ मन नहीं लगता। फिर भी पेट का धन्धा है, क्या करूँ। परिस्थिति जो न करे। विश्वनाथ जी मुझे शरण में टिकने नहीं देते। इसका दुःख है। किन्तु इस दुःख का वही छुड़ा सकते हैं। मिलने पर ही बातें होंगी। इस बार बहुत-सी बातें एकान्त में 'प्राइवेट' तौर से कहना है, सुनाने को दिल बेचैन है। देखना है कि कब मौका मिलता है।

१-५-३१

सेठ जी का पत्र लौटाता हूँ। 'मतवाला' निकलने लगा। खैर, कोई रास्ता निकल ही आयेगा, अपनी पारिवारिक स्थिति से विवश हूँ। समय बड़ा नाजुक है अतएव को भी सच मान लेना पड़ता है। विश्वनाथ से

बराबर विनती कर रहा हूँ। हे नाथ! कब तक उबारोगे? हे नाथ! यह किस अपराध का फल भोगना पड़ रहा है।

सचमुच भावी के अनुसार ही बुद्धि हो जाती है। प्रारब्ध का भोग कोई मेट नहीं सकता। मैं अपनी दशा पर दुखी हूँ, पर भविष्य पर विश्वास है। विश्वनाथ का भरोसा है।

अग्रवाल प्रेस (बनारस) ने अपने रुपये के लिए अदालती नोटिस वकालतन भिजवाया है। घर पर हालत यह है कि सात आठ सौ माल-गुजारी बाकी है, मगर असामी देने से लाचार हैं। अन्न की सस्ती ने रुपया अशर्फी हो गया है। मालगुजारी न मिलने से कर चुकाने के लिए वारण्ट हो गया है। मानसिक चिन्ता चारों ओर से चाट रही है।

भारत धर्म महामण्डल वाले प्रश्न पर मैंने बहुत विचार किया। आत्मा हिचकती है। कड़ाही से निकल कर आग में गिरना भयदायक है। अगर कोई स्थायी प्रबन्ध दूसरा ही हो जाय, तो ठीक है। मन के भावों को दबाने से स्वास्थ्य पर असर पड़ता है। खुल कर लिखने का अवसर मिलने पर चित्त खुश सा रहता है। क्या करूँ, आर्थिक स्थिति के पक्ष में पड़ कर मैं सब चुपचाप सह लेता हूँ, किन्तु आत्मा में शान्ति नहीं है, मन बिगड़ रहा है, राम मालिक है।

बाबू साहब ने स्वास्थ्य का हाल लिखने की कृपा कीजिएगा। बाबू [illegible] का [illegible] कब कुशल होगा, ईश्वर जाने। राय साहब [illegible] पान [illegible] करते जाते हैं क्या? सुना है, 'कला' नाम की पत्रिका [illegible]। अग्रवाल प्रेस ने नोटिस [illegible] लिखा। [illegible] [illegible] क्यों [illegible] [illegible] [illegible]

अगर मैं काशी आया, तो इससे साहित्यिक धूम मचेगी फिर।

२८-६ ३१

गंगा

"घर से छोटे भाई ने लिखा है कि आकर अपना हिस्सा बाँट लीजिये और अपना कारोबार सम्हालिये, मैं लाचार हूँ। ऐसी दशा में भला मैं यहाँ रह कर 'गंगा' का जजाल कैसे ढो सकता हूँ। इसलिए मजबूर होकर यहाँ से घर के नजदीक जाना ही पड़ेगा और काशी ही घर के पास है, किन्तु काशी में कोई सिलसिला नहीं है। इसलिए हिन्दू पञ्च, विजय, अभ्युदय, भारत आदि से प्रति सप्ताह फुटकर काम मिलने की आशा लेकर मैं काशी में फिर बैठना चाहता हूँ। सब लोगों ने वादा किया है कि बराबर कुछ लिखिये तो कुछ देंगे। इसी तरह काशी में दिन बिताऊँगा। राय साहब का काम उठ ही गया, मैंने उसकी आशा भी छोड़ दी—मैं काशी छोड़ कहीं सुखी नहीं रह सकता। विश्वनाथ का ही भरोसा है। वहीं फिर बैठूगा, सूखा चना ही सही। किन्तु अभी यह खयाली पुलाव ही है। इरादा तो ऐसा पक्का है, मगर कोई सूरत नहीं नजर आती। यहाँ से छुटकारा मिलना भी कठिन है।... मगर मुझसे यहाँ की मेहनत पार नहीं लगती। परिश्रम ज्यादा, कीर्ति कम, अधिकार कुछ नहीं। मानसिक पराधीनता बरदाश्त करने की आदत नहीं। हाँ, मेरी सिधाई से बहुतों ने अनुचित लाभ उठाया है। अब मैं ऊब गया हूँ। अब कहीं नौकरी करने की इच्छा या शक्ति नहीं है। अब एकान्त में बैठे बैठे जो कुछ हो सके, उसी से गुजर करने की इच्छा है। घरेलू झमेले भी बहुत हैं। उन्हें निपटाने के लिए घर के नजदीक रहना जरूरी है। यहाँ से घर बहुत दूर है। हर महीने वहाँ जा नहीं सकता। फिर अन्नजान प्रेस ने नालिश की है। उसकी तारीख ६ जुलाई को पेशी

है। समन आया है। उस तारीख को वहाँ आकर आप लोगों के सहयोग से कोई समझौता करना है। समझौता हो जाने पर कोई रास्ता निकल ही जायगा। मैंने उन्हें पत्र लिखा था, पर उत्तर नहीं आया। मैं तो हैंडनोट लिख चुका हूँ, इनकार कर नहीं सकता और झूठ बोलने की नीयत भी नहीं है। मैं ईमान नहीं बिगाड़ सकता, चाहे जो हो जाय। मैं जिस तरह होगा, उनका रुपया दूँगा। इसी बहाने से मैं यहाँ से हट सकता हूँ। खैर, भेंट होने पर बातें होंगी। बहुत सी बातें करने का इरादा है। ईश्वर की इतनी दया हो कि फिर वे ही दिन सामने आवें।"

शिव

शिव जी के निश्चित रूप से काशी में जम जाने के प्रयत्न में बाबू साहब और मैं दोनों ही लगे थे। बाबू साहब ने 'महामण्डल' के लिए प्रस्ताव किया, लेकिन उन्हें ठीक नहीं जँचा। मैं इसी प्रयास में था कि 'मतवाला' काशी से निकले और उसमें शिव, उग्र, निराला आदि का सहयोग प्राप्त हो। इस सम्बन्ध में मैं महादेव बाबू से मिलने मिरजापुर भी गया था, लेकिन बहुत सी बातचीत होने के बाद भी जब महादेव बाबू ने 'मतवाला' व 'गुप्तमित्र' के ही पाँच हजार रुपये माँगे तब मैं हताश हो गया।

हम लोगों के पास सभी [illegible] थे, किन्तु पैसों के अभाव [illegible] कुछ निश्चित [illegible] नहीं बन पाता था। प्रसाद जी और बाबू साहब की आर्थिक अवस्था [illegible] हुई नहीं थी कि उनसे सहायता [illegible]। अतएव हमें [illegible] नहीं [illegible] था। [illegible] [illegible] [illegible] योजना बनी और 'जागरण' का प्रकाशन आरम्भ हुआ।

[illegible] किया था, उसका

किसी एक पत्र को जीवित रखने में पर्याप्त होता, लेकिन शुद्ध साहित्यिक पाक्षिक पत्र के स्थान पर यदि वह हास्यरस का साप्ताहिक होता, तो अवश्य ही सफलता मिली होती। इस क्षेत्र में हम सभी लोगों को व्यावसायिक अनुभव न था। भावुकता व्यवसाय को कभी पनपने नहीं देती। दुर्भाग्य ने ऐसा आक्रमण किया कि हम सभी पराजित होकर हताश हो गये और शिव जी फिर अपनी पुरानी स्थिति में ही आ गये।

शिवपूजन जी की तरह परिश्रमी व्यक्ति मैंने दूसरा नहीं देखा। वह जिस पाण्डुलिपि को ठीक करते, उसके एक एक अक्षर पर ध्यान रखते थे। पट्ट चटाई पर लेटे वह घण्टों काम किया करते थे और कभी थकते या घबड़ाते नहीं थे। यह उनकी विशेषता थी। उनके जीवन का अधिकांश परिश्रम दूसरों की रचनाओं के संशोधन में ही लगा। उनमें प्रतिभा थी किन्तु उस प्रतिभा का सदुपयोग नहीं हुआ। पैसों के लिए उन्होंने अपनी प्रतिभा को बेच दिया था। इस तरह वे केवल साहित्यिक कार्य ही नहीं बल्कि रीडर और टेक्स्ट बुक के चक्कर में भी पड़ जाते थे। परिस्थितियों के कारण विवशता थी। घर में बाल बच्चों के कारण बोझ अधिक बढ़ गया था। खुद बीमार हैं, पत्नी को ज्वर आ रहा है, बच्चों की आँख उमड़ी है। एक न एक परेशानी में सदैव फँसे रहते थे।

शिवपूजन जी की स्थिति देख कर मैं कभी कभी मन में सोचता कि क्या विधाता ने इनके जीवन में कभी शांति की व्यवस्था नहीं की है। वैसे स्वभाव के भी वे कुछ सकोची ऐसे थे कि जिसने अपने काम में उन्हें लगाया उसने पूर्ण रूप से उनकी शक्ति का रस निचोड़ने का ही प्रयत्न किया। इधर उधर धक्का खाकर भी वे मुक्त न हो पाते थे। कोई अन्य साधन भी सामने दिखाई न पड़ता था। कभी लहेरियासराय में हैं, कभी काशी में फुटकर काम कर रहे हैं, कभी प्रयाग में किसी ग्रन्थ की छपाई में व्यस्त

हैं। एक स्थान पर स्थिर होकर रहने का अवसर ही उन्हें नहीं मिलता था।

अब दूसरा मकान बदल कर वे बुलानाला में महाशक्ति औषधालय के बगल वाले मकान में आये। यहाँ आकर एक प्रकाशक से उनका सम्बन्ध हुआ, जिसने मेरी और श्री सम्पूर्णानन्द जी की कुछ पुस्तकें प्रकाशित की थीं। इस प्रकाशक द्वारा उन्हें बड़ा कटु अनुभव हुआ। इसका प्रमुख कारण यह भी था कि उन दिनों कुछ ऐसे बनारसी सिद्ध पुरुषों का प्रभाव उनके ऊपर पड़ गया था जो अपने घेरे में ही उन्हें रखे हुए थे और आपस में मनोमालिन्य करा देना जिनके बाँये हाथ का खेल था। उनके उस समय के लिखे दो कार्डों से इसका आभास मिलता है।

लहेरिया सराय
१८ ४ ५४

भाई व्यास जी,

— का एक पत्र आया है। उसमें उन्होंने मुझे झूठा, दगाबाज, बेईमान, रंगा स्यार आदि बनाकर मेरी काफी मरम्मत की है। मैंने उन्हें उत्तर देकर [illegible] की है। अब आप उनसे [illegible] होने पर, उन्हें [illegible]। वे अखबारों में मेरी बदनामी करने जा रहे हैं, [illegible] दीजिये, [illegible] हिन्दी [illegible] मेरा नाम [illegible]।

[illegible]

[illegible]

कभी भूले भटके भी इस धोखाधड़ी के उस्ताद को याद किया कीजिये।

लहेरिया सराय

७-५-३४

"आप के कृपा पत्रों के उत्तर में निवेदन है कि 'मायामन्दिर नाम मे मेरा कोई प्रेम नहीं है। किन्तु मैंने जो पात्र फार्म मैटर लिखा है, वह मेरी खास चीज़ है, अपनी कल्पना और अपना प्लाट है। उसे छोड़कर कोई भी मायामन्दिर के नाम से दूसरे प्लाट पर दूसरे ढंग से स्वतन्त्र लिख सकता है। मैं तो लिख ही रहा था और लिख ही डालता मगर अचानक मुझे गालियां देने लग गये, इसलिए मैं विरक्त हो गया। अब मैं फिर कभी उस उपन्यास को पूरा करूंगा। 'असमंजस' भी यों ही पड़ा रहेगा। मेरे ही भाग्य के समान मेरी रचनाओं का भाग्य भी है। ईश्वर की यही इच्छा थी। मुझे खुद बहुत अफसोस है कि उनके मन में ऐसा तूफान क्यों आया और मैंने उनसे नाता जोड़ा। इस तरह का नाता तोड़ किसी के साथ आज तक नहीं हुआ था और इस तरह मुंहफट बनकर किसी ने भर पेट गाली भी नहीं दी थी। खैर, उनसे कह दीजिये कि मेरी दोनों चीजें पड़ी रहने दें। दूसरे से नयी चीजें लेकर अपना काम चालू करें। अगर हृदय की ग्लानि शान्त हो जायगी तो कुछ दिनों के बाद अपनी दोनों चीजों को पूरा करके कहीं छपा लूंगा। उन्होंने 'सौनेट' पुस्तक मांगी थी। जब मैंने भेजी तो लेते ही नहीं। इसका क्या अर्थ है। मुझ से कुछ और लेना हो तो स्पष्ट बतलावें, मैंने तो कष्ट झेलते हुए भी उन्हें अनेक सुविधाएं दी थीं ताकि काम चल निकले तो मेरा भी पूरा दे दें।'

निरा

शिवपूजन जी के उन दोनों कार्डों में मेरे प्रति जो व्यंग्य है उससे मुझे बड़ा आतरिक क्लेश हुआ, किन्तु मैं जानता था कि इस सम्बन्ध में दूसरों का प्रभाव ही विशेष रूप से उन पर है, उनका अपना मत ऐसा नहीं है। उन दिनों कुछ वातावरण ही मेरे विपरीत बन बैठा था, घोर आर्थिक कठिनाई के मध्य में अपने सभी मित्रों का आक्रमण असहनीय हो गया था। जिस प्रकाशक के सम्बन्ध में शिवपूजन जी ने लिखा था, वे तो वास्तव में विचित्र थे इसका अनुभव उनसे सम्बन्ध रखने वाले सभी लेखकों को अन्त में हुआ। भेंट होने पर सब बातें साफ हुईं और मेरे प्रति उनका भ्रम दूर हुआ।

बनारस का वातावरण इतना दूषित हो गया था कि मैं कुछ दिनों के लिए दिल्ली चला गया और वहाँ से 'छाया' नाम की पत्रिका का सम्पादन करने लगा। उस समय शिव जी का एक पत्र मिला।

बालक, लहेरियासराय
८-२-१९३५

"आपका कृपापत्र ठीक मध्य महासागर में मिला। भारतेन्दु अंक में मैं डूब रहा था। ईश्वर की दया ने अंक तैयार करके मुझे ठीक समय पर पहुँचा दिया। तबीयत खराब हो गयी। इसी से आपके पत्रोत्तर में आशातीत विलम्ब हो गया, जिस के लिए क्षमा चाहता हूँ—यद्यपि आपके लिए क्षमा बहुत सस्ती पड़ती है, तथापि विश्वास है कि पूर्ववत स्नेह रखियेगा।

'छाया' के अंक नियमित [illegible]। उसकी प्रशंसा [illegible] लोग [illegible] हैं। [illegible] यदि प्रशंसा [illegible] तो स्वाभाविक [illegible]। आप सम्पादक [illegible] [illegible] [illegible]

सारा हिन्दी संसार आ जायगा। काशी वासी कहीं जमते नहीं, काशी का आकर्षण भूमण्डल के किसी स्थान में नहीं है।

आपने मेरे सहयोग की याद दिलायी है। यह याद पीड़ा देती है। अभी भूले रहिये। अवसर की प्रतीक्षा कीजिये। चुप ही रहिये। विश्वनाथ की राजधानी में ही जो होगा सो होगा। अभी तो जगल के सूखे पत्ते हम लोग हैं।"

उसके बाद पत्र व्यवहार कुछ शिथिल रहा। फिर।

बालक, लहेरिया सराय
२४-१०-१९३६

"विजया दशमी का सप्रेम प्रणाम। शुभ मंगल आनन्द की कामना स्वीकृत हो।

आप का कृपा पत्र मिला था। कई तरह के झमेले में फसे रहने से पत्रोत्तर न दे सका, पर आप की स्मृति सदा बनी रहती है। पत्र में क्या लिखूं और क्या न लिखूं। आप ने उलाहना दिया है कि मैं न लिखू तो तुम काहे को लिखोगे। मैं तो आप की शांति में बाधा पड़ने के भय से नहीं लिखता था। अब सदा लिखा ही करूंगा। अवकाश बिल्कुल नहीं मिलता, पर स्मृति तो सदा बनी ही रहती है। सुना था. आप काश्मीर गये थे। आप को मेरे अवकाशाभाव पर विश्वास न होगा, पर आप यदि वास्तविक स्थिति देखें, तो पता लगे। इच्छा होती है, विस्तृत पत्र लिखूं, पर मन की बात मन में ही रह जाती है। आप का सवाद जो कोई आ जाता है, उससे पूछ लेता हूं। मेरे अन्दर कोई परिवर्तन नहीं है, परिस्थिति जैसा बना दे। मुझ पर अविश्वास न कीजिये सदा अपना समझिये।

आप को विस्तृत पत्र लिखना ही चाहता था कि प्रेमचन्द जी का निधन सवाद मिल गया। चित्त चञ्चल हो गया और अभी तक हृदय अधीर ही है। क्या लिखू, बड़ा भारी दु ख है। ईश्वरेच्छा, जैसी मर्जी।

जागरण के विषय में इस समय क्या लिखू, जब अनुकूल स्थिति हो, तब हाथ लगाइये।"

—शिव

उन दिनों प्रसाद जी की अवस्था भी सहसा चिन्तनीय हो उठी थी।

"कल 'आज' आया तो प्रसाद जी की बीमारी की खबर पढी। चित्त व्यग्र हो उठा। घोर चिन्ता में हूँ। कृपया आप ठीक ठीक लिखिये कि हालत कैसी है। तीन पैसे मेरे लिए खर्च करके चिन्ता दूर कीजिये। बहुत शकित चित्त हूँ। आशा है, आप असली हालत लिखने की कृपा करेंगे। खुद देखकर ठीक ठीक हाल पूछ कर सच्ची बात लिखिये। बड़ी दया समझूगा।"

—शिव

मैंने प्रसाद जी से कहा कि शिव का पत्र आया है, आप के लिए बड़े चिन्तित हैं। उन्होंने कहा—क्या बताने का यहाँ नहीं है। सब हाल लिख दो।

प्रसाद जी शिवपूजन को बहुत मानते थे। उनके ऊपर उनका [illegible] था। [illegible] था। [illegible]

प्रसाद [illegible]

[illegible]

[illegible]

[illegible]

राजेन्द्र कालेज, छपरा।

८-२-४३

बहुत दिनों से आप का समाचार न मिला। काशी में आप से मिलकर आया, तब से कोई हाल-चाल नहीं! इधर के अनिश्चित वातावरण में मैं भी अस्तव्यस्त-सा रहा।

आप का समाचार जानने की बड़ी उत्कण्ठा है। बच्चे कैसे हैं? आप क्या लिखते हैं? अन्य परिस्थितियाँ कैसी हैं? कृपया एक पत्र लिखकर चित्त को विश्राम दें। अब फिर गर्मी की छुट्टी में ही दर्शन कर सकूंगा। मेरे बच्चे यहीं हैं। जीवन की गति अत्यन्त नीरस हो गयी है। आप जब याद आते हैं तब हृदय में वे सुनहले दिन एक बार कौंध जाते हैं। आशा है आप पूर्ववत् मुझपर स्नेहमयी कृपा बनाये रहेंगे। आप की स्मृतियाँ मन को बहुत ढाटस देती हैं। आप से प्रार्थना है कि एक बार जरूर पत्र लिखने का कष्ट कीजिये। शान्ति में बाधा देने के लिए क्षमा करें।

—शिवपूजन

एक वर्ष बाद—

११-३-४४

"आप का कृपा पत्र पाकर अत्यन्त हर्ष हुआ। आप कृपया स्मरण कर लेते हैं, यह मेरा परम सौभाग्य है। अब वे दिन कब लौटेंगे जब काशी का अन जल नसीब होगा। विश्वनाथ ही जानें कि यह होगा भी या नहीं।

आपने साप्ताहिक 'आज' के होली वाले विशेष अंक में 'राम कहानी' पढ़ी होगी। उस 'मेरी राम कहानी' के बाद फिर एक लिखा है—'मैं रानी हूँ'। उस को भी शीघ्र आज में ही भेजूंगा। आप के स्मरण में

जो विनोदपूर्ण लेख छपे थे और इधर जो छपे हैं, सब के बारे में अपनी राय दीजियेगा—यदि अवकाश और सुविधा हो।"

—शिव

कुछ समय के लिए साप्ताहिक 'आज' का मैं सम्पादक बन गया था उसी की ओर शिव जी का संकेत है।

इतने समय शिवपूजन जी के साथ रह कर उनके सम्बन्ध में जो कुछ जानकारी मुझे प्राप्त हुई उसके बलपर मैं कह सकता हूँ कि आदमी खो कर कुछ सीखता है, लेकिन शिव जी खोते ही चले जाते थे। एक बार कटु अनुभव होने पर फिर वह भूल भुलैया में भटक जाते थे। उनके आत्मीय और अन्तरंगों ने सदैव उनसे लाभ उठाया और अन्त में अपयश के भागी शिव ही बने।

किसी का अनुरोध टालने की क्षमता उनमें तनिक भी नहीं थी। एक साधारण पुस्तक पर भी अपनी अमूल्य सम्मति तत्काल ही दे बैठते—सराहना करना तो मानो उनका जन्म सिद्ध अधिकार था। वह कभी किसी की निन्दा अथवा अवगुण की ओर ध्यान नहीं देते थे। यह उनकी साधु प्रकृति की विशेषता थी। भूमिका लिखने में तो हिन्दी संसार में उनका बड़ा महत्त्वपूर्ण स्थान है। मेरा अनुमान है कि अपने जीवन में उन्होंने कितनी पुस्तकों की भूमिका लिखी होगी। वह अपनी लेखनी के महत्त्व को भुला देते और कभी किसी को निराश नहीं करते थे। ऐसा ही उन दिनों उनका स्वभाव था।

अपनी इस सरल [illegible] के कारण वह प्राय शिकार भी [illegible] थे। अ[illegible] के सहारे पर गालियाँ खुद खा लेते थे। 'उग्र' उन दिनों [illegible] आक्रमण [illegible] इस पर [illegible] के बाद उन्होंने एक [illegible] उनके लिए [illegible] कहा—

भाई शिव,

एक पत्र भेजा था—उसका उत्तर तुम क्या दोगे 'शायद जागरण भेजना भी बन्द कर दिया। तुम भी अपने को साहित्यिक और सम्पादक और सहृदय लगाते हो! कुटिलों की सेवा या संगति में बुद्धि जरूर मैली हो जाती है—तुम ऐसों की भ्रष्ट या गन्दी चाहे न हो ‥ ठीक है…मैं सकुशल हूँ….

—'उग्र'

इस कार्ड में लक्ष्य मेरी ओर था लेकिन आक्रमण शिवपूजन पर हुआ।

शिव का पारिवारिक जीवन आरम्भ होने पर बच्चों को खिलाने और गृहस्थी का साधारण काम करने में वे कभी हिचकते न थे। और यह सब करते हुए भी कभी वे झुंझलाते अथवा क्रोधित न होते थे। निश्चय ही उनकी सहन शक्ति बड़ी अटल है। इसमें कोई सन्देह नहीं।

शिव जी के जीवन की सब से बड़ी रहस्यमय बात यह है कि जीवन भर वह उपार्जन करते रहे। कलकत्ता, काशी, लखनऊ, लहेरियासराय और पटना से वह बराबर पैसा कमा कर घर भेजते रहे, कभी अपने लिए जोड़कर रखने का विचार उन्होंने नहीं किया। दूसरी बात यह थी कि जो कुछ मिल गया उसी में सन्तुष्ट रह गये। अपनी कोई पसन्द नहीं थी—शौक नहीं था। खुद अपने लिए बाजार से कोई खास चीज लाकर अपनी इच्छा की पूर्ति करना उनके स्वभाव के विपरीत था। इसलिए खर्च करना—या पैसों को बहाकर आनन्द और सुख लेना उनके भाग्य में नहीं लिखा है।

शिवपूजन जी के हृदय में बाबा विश्वनाथ पर अटल विश्वास है और यही विश्वास अन्त में सहायक हुआ। जीवन भर भटकने के बाद अन्त में वे एक ऐसे स्थान पर पहुँच गये जहाँ पहुँच कर वे अपने लक्ष्य

की ओर अग्रसर हुए। उनके जीवन भर की सञ्चित योजनाओं को कार्य रूप में परिणत होने का अवसर मिला और इस तरह बिहार राष्ट्रभाषा-परिषद का जन्म हुआ। वह अपने परिश्रम में कभी भी शिथिल न रहे, जहाँ भी रहे—खटकर जीना ही उनका कार्यक्रम बना।

पटना

२१-११-५१

'क्षण भर विश्राम और शांति नहीं। कभी भेंट होती तो अपनी परिस्थिति का वर्णन सुनाता, चिट्ठी में कहाँ तक लिखूँ।

आप से मिलने की अत्यन्त उत्कट अभिलाषा बहुत दिनों से है। भगवान विश्वनाथ की कृपा कब होगी, वही जानें। एक दो बार गया भी था, तो घर पर आवाज देकर जल्दी के कारण निराश लौटा। फिर भी आप की स्मृति सदा हरी ही है। कृपा और स्नेह बनाये रहें।"

शिव

इसके पहले [illegible] के एक कार्ड में इन्होंने लिखा था—
'पराक्रम की यंत्रणा में व्यस्त था। स्वास्थ्यलाभ मार्ग भी चल रहा है। पटना में भी घर नहीं जा सका। लगातार श्रम से अत्यन्त श्रान्त हूँ।"

और अन्त में वह समय आ गया जब 'श्रम' का प्याला भर गया। बेचारे शिवपूजन जी क्षय रोग के आक्रमण से त्रस्त हुए। समाचार मिला कि उनकी स्थिति बड़ी चिन्ताजनक है।

मैं उन्हें [illegible] पटना गया। [illegible] 'योगी' [illegible] लिखा। [illegible] है—

[illegible] महाशय [illegible] समाचार। [illegible] [illegible] [illegible] हैं। आखिर

बादल मंडराकर चले गये। विधाता का वरदान मिला। हम लोगों की मनोकामना पूर्ण हुई। अब वे स्वस्थ और निरोग हैं। उन्हें अपने स्थान पर देख कर हृदय खिल उठा।

संयोग से पटना पहुँचने के दो दिन पहले ही वे अस्पताल से छुटकारा पाकर आये थे। उस दिन दोपहर के समय मैं उन्हें खोजता हुआ बिहार हिन्दी साहित्य सम्मेलन के पिछवाड़े उनके क्वार्टर में पहुँचा। देखा, दीवार की ओर करवट बदले वे पलग पर पडे ऊब रहे हैं। जगाने का मेरा साहस नहीं हुआ। मैं पास में ही बगल के कमरे में उनके जागने की प्रतीक्षा में बैठा था। कुछ समय बाद उन्हें जाग्रत अवस्था में देखकर उनके एक सम्बन्धी ने मेरे आने की सूचना दी। उसी समय मैं भी वहाँ उपस्थित हुआ।

मुझे देखते ही वे अपनी अस्त-व्यस्त धोती सभालने लगे। इसके बाद, कब आये? कहाँ ठहरे हैं? आदि प्रश्नों के बाद बातें आरम्भ हुई।

मैं बड़े ध्यान से उनकी आकृति देख रहा था। बहुत समय के बाद, छपरा जाने से पूर्व भेंट हुई थी। उसके बाद फिर कभी हम दोनों का सामना नहीं हुआ था। समय-समय पर पत्रों द्वारा ही परिस्थितियों की सूचना मिलती रहती थी।

उनकी परिवर्तित मुखाकृति पर सचमुच युग की गाथा अंकित थी। उनके दांत विदा ले चुके थे। उनकी आँखों की ज्योति मलिन पड़ गयी थी। घनी मूछों के स्थान पर समतल सफेदी की रेखाएँ झलक रही थीं। बात करते समय मुह पोपला सा दिखाई पड़ा। परिचर्या और दुरवस्था के कारण फूले गालों के आस-पास की रेखाओं ने अपनी अवस्था स्पष्ट कर दी थी।

उस दिन बीमारी के बाद पहली बार उन्होंने मेरे हाथ का स्पर्श

हुआ बनारसी पान खाया था। उनके होंठों पर लाली दौड़ गयी थी।

कई घण्टे बहुत सी बातें हुईं। फिर मैंने उनसे बिदा ली।

'बिहार राष्ट्रभाषा परिषद' शिवपूजन की कल्पनाओं का एक साकार रूप बना। उसका प्रकाशन, संग्रहालय आदि देखकर हृदय प्रफुल्लित हो उठा। अपनी मण्डली के एक त्रस्त और हताश मित्र के जीवन की लालसा पूर्ण हो, इसे देख कर किसे आनन्द न होगा! शिवपूजन जी की यह अमर कीर्ति चिर-काल तक राष्ट्रभाषा के मस्तक पर लाल बिन्दी की तरह शोभित रहेगी, ऐसा मेरा विश्वास है।

भविष्य जब अनुसन्धान करेगा तो उसे यह सुलझाने में बड़ा रहस्य प्रतीत होगा कि जिसके जीवन में हास्य लुक छिपकर सदैव ही रूठा रहा उसने अपनी लेखनी द्वारा कैसे सरस और खिलखिला देने वाले व्यंग्यों की सृष्टि की।

शिवपूजन जी बिहार की ही नहीं राष्ट्र भाषा हिन्दी की विभूति हैं।

रूपनारायण पाण्डेय

प्रसाद जी के बाद दूसरे व्यक्ति पं० रूपनारायण पाडेय थे जिनके प्रति मेरा विशेष आदर और सम्मान था। पाडेय जी ने बड़ी वफादारी से मुझ से तथा प्रसाद जी से मित्रता का निर्वाह किया। प्रसाद जी के साहित्यिक जीवन से पाडेय जी का अत्यन्त निकट का सम्बन्ध था। अनेक वर्षों तक निरन्तर साथ रहने के कारण पाडेय जी प्रसाद जी की मनोवृत्तियों से पूर्ण परिचित थे। प्रसाद के साहित्यिक जीवन के क्रमविकास का लेखा उन्हें भली भाँति ज्ञात था।

'सरस्वती' के प्रकाशन के साथ ही बंगला साहित्य का प्रभाव भी हिन्दी में तीव्र गति से बढ़ा। द्विवेदी युग में 'सरस्वती' एक मात्र बगालियों की छत्रच्छाया में थी। 'सरस्वती' के कारण ही हिन्दी में बंगला साहित्य के प्रति रुचि जगी। बाद में इसका एक मात्र श्रेय पं० रूपनारायण पाण्डेय ही को है। उन्होंने महाकवि रवीन्द्र, शरत्, बंकिम, डी. एल. राय आदि महान् लेखकों की अधिकांश कृतियों का अनुवाद हिन्दी संसार के सम्मुख उपस्थित किया।

संस्कृत का पर्याप्त अध्ययन करने के कारण पाडेय जी का ज्ञान बड़ा विशाल था। भाषा और प्रूफ देखने के कार्य में वे आचार्य थे। आचार्य

ही नहीं आचार्यों के गुरु थे, क्योंकि शिवपूजन जी (श्री शिवपूजन सहाय) भी उन्हें गुरुवत् मानते थे।

पाण्डेय जी को अंग्रेजी भाषा का बहुत साधारण ज्ञान था, अतएव संस्कृत और बंगला भाषा ही उनका क्षेत्र था। प्रसाद जी की रचनाओं में जहाँ कहीं संशोधन की आवश्यकता होती वहाँ पाण्डेय जी की लेखनी उसकी पूर्ति कर देती, क्योंकि व्याकरण पर ध्यान देना प्रसाद जी ने कभी भी आवश्यक नहीं समझा था।

पाण्डेय जी को पैत्रिक सम्पत्ति नहीं मिली थी। अतएव वह जीवन भर स्वावलम्बी ही रहे। साहित्य ही उनकी जीविका का साधन था। प्रति दिन नियमित रूप से उन्हें अनुवाद का कार्य करना पड़ता था, क्योंकि नौकरी करने पर भी मासिक वेतन पर्याप्त नहीं होता था जिससे उनका कार्य सुचारु रूप से चल सके। वह खर्चीले स्वभाव के थे।

१७ वर्ष की अवस्था में ही उन्होंने भागवत का हिन्दी अनुवाद प्रस्तुत किया था। १८ वर्ष की अवस्था में 'नागरी प्रचारक' का सम्पादन करने के बाद वह काशी आये। यहाँ 'भारत धर्म महामण्डल' से प्रकाशित होने वाली 'निगमागम चन्द्रिका' का सम्पादन कार्य मिला। तभी से पाण्डेय जी का सम्पर्क प्रसाद जी से हुआ। प्रसाद की मण्डली में पाण्डेय जी का प्रमुख स्थान था। इन दोनों की लगन का परिणाम ही 'इन्दु' था। 'इन्दु' के सम्पादन का कार्य वास्तव में पाण्डेय जी ही करते थे।

पाण्डेय जी स्वभाव से बड़े निरभिमान थे। प्रसाद जी की मण्डली में ऐसे व्यक्ति का विशिष्टतम हो जाना स्वाभाविक था। प्राचीन संस्कृत साहित्य के प्रति दोनों का ममत्व और जिज्ञासा थी। आपस में इन्हीं बातें होतीं और कभी न [illegible] होते। प्रसाद जी और पाण्डेय जी ने

कभी मतभेद न होता। यही कारण था कि जीवन भर दोनों की मैत्री में कोई अन्तर नहीं पड़ा।

'इन्दु' की आर्थिक व्यवस्था सुदृढ नहीं थी। वह युग भी ऐसा नहीं था कि पत्र-पत्रिकाए अपने ग्राहक अथवा विज्ञापन के बल पर चलती रहें। प्रसाद जी को ही उसकी पूर्ति करनी पड़ती थी। वैसे संचालक उनके भाजे श्री अम्बिका प्रसाद गुप्त थे और हम सभी लोग उन्हें शिव के नाम से ही सम्बोधित करते थे। खर्च की समस्या न हल होने के कारण ही पाण्डेय जी को लखनऊ लौट जाना पड़ा। और इधर 'इन्दु' भी लुप्त हो गयी।

लखनऊ में उन्हें बाबू दुलारे लाल के 'गंगा ग्रन्थागार' के लिए अनुवाद का कार्य मिला। पांडेय जी कुशल सम्पादक थे ही अतएव एक उच्च कोटि की मासिक पत्रिका की योजना बनी और १९२२ ईसवी में नवल-किशोर प्रेस से 'माधुरी' का प्रकाशन आरम्भ हुआ। पांडेय जी की प्रतिभा के पूर्ण चमत्कार ने 'माधुरी' को हिन्दी की सर्वश्रेष्ठ पत्रिका के स्थान पर पहुँचा दिया था। हिन्दी संसार में अपने ढंग की एक ही पत्रिका 'माधुरी' निकली और आज तक फिर वैसी मासिक पत्रिका कोई न निकल पायी।

'माधुरी' निकालने के बाद एक बार पांडेय जी काशी आये। प्रसाद जी के यहा ठहरे थे। मेरा उनका परिचय हुआ। मेरी कई कहानियाँ वह 'माधुरी' के लिए ले गये। 'माधुरी' में मेरी कहानियाँ प्रकाशित होते ही सभी प्रमुख पत्रिकाओं से कहानियों की मांग आने लगीं और बहुत थोड़े समय में मुझे एक सम्मानित स्थान मिल गया। इस सम्बन्ध में तो मैं जीवन भर पांडेय जी का ऋणी रहूँगा।

अब पांडेय जी के कुछ पत्रों का सारांश देकर उस समय की स्थिति बता रहा हूँ।

'माधुरी' से अलग हो कर जब वह 'सुधा' निकालने लगे तब उनका निम्नलिखित पत्र मिला—

२५–२–१९२७

"आपकी 'करुणा' कहानी फागुन में छप गयी है। चैत्र से हम लोग 'माधुरी' का सम्पादन छोड़ देंगे। जुलाई से 'सुधा' नाम की अपनी पत्रिका हम लोग निकालेंगे। उसी में अन्य कहानियाँ निकालेंगे। नहीं तो कहिये, पुस्तकाकार ही छाप दें। 'सुधा' में आप और कहानियाँ दीजियेगा। जयशंकर जी से मेरा आशीर्वाद कहना। आप दोनों मित्र कृपा पूर्ववत् रखें। यही प्रार्थना है।"

—रू०

फिर—

७-४-१९२७

"[illegible] मेकअप में ही रह गया होगा। कारण, आपकी रचना में कोई कलम नहीं लगाता। 'सुधा' अगली मई से निकलेगी। आपके पास [illegible] पत्र मैंने भेजा था। आशा है, उसके लिए आप कोई नयी [illegible] कहानी अवश्य लिखेंगे। फिर प्रसाद जी को भी मेरी ओर से [illegible] दीजियेगा। उन्हें 'सुधा' के पहले अंक के लिए एक कहानी [illegible] कविता अवश्य देनी पड़ेगी। [illegible] प्रणाम पहुँचा दीजियेगा। [illegible] बहुत बहुत प्यार [illegible] कहना।'

आपका [illegible]

—रू०

उस वर्ष पांडेय जी अस्त-व्यस्त रहे। 'सुधा' में भी पटरी नहीं बैठ रही थी। कुछ आपस में तनातनी चल रही थी। एक दूसरा पत्र देखिये।

रानी कटरा, लखनऊ

२२-९-२८

'गया से शीघ्र ही एक सचित्र मासिक मेरे संपादकता में निकलेगा। वही, जिसका जिक्र सम्मेलन से लौटते समय मैंने आपसे किया था।

कृपा कर उसके लिए कोई बढ़िया कहानी लिख कर ऊपर के पते पर भेजिये। मैं कृतज्ञ होऊंगा। पत्र को अपना ही समझिये। आप की कहानी से पत्र का गौरव बढ़ेगा। और भी अपने इष्ट मित्रों से कुछ लिखवा कर भेजिये। आपका सहयोग और साहाय्य मेरे लिए बहुमूल्य होगा।''

—रू०

हिन्दी साहित्य सम्मेलन के मुजफ्फरपुर अधिवेशन में मैं भी गया था। वहाँ पांडेय जी से साहित्य सम्बन्धी बहुतेरी बातें हुईं। हिन्दी के साहित्यिक-जगत की अवस्था देख कर मन में बड़ी निराशा और दुःख होता था। पांडेय जी जैसे विद्वान् और सम्मानित सम्पादकों का जब यह हाल है तो हमारे जैसे नवागन्तुकों की क्या स्थिति होगी? यही प्रश्न सदा उपस्थित होता था। साहित्य से जीविका अर्जित करना असम्भव था।

'तूलिका' के पुरस्कार में दस आने पेज पर कापीराइट बाबू दुलारे लाल भार्गव चाहते थे। इस पर खिन्न होकर मैंने पत्र लिखा। उसका जवाब पांडेय जी ने दिया, वह भी कुछ बेतुका सा था। इस पर मैं मौन हो गया।

बाद में उनका एक कार्ड मिला।

रानीकटरा, लखनऊ
२-४-२९

भैया विनोद,

तुम तो मुझ से नाराज ही हो। अभाग्यवश मुझे शीघ्र ही कलकत्ता छोड़ना पड़ा और मैं तुम्हारे पास जा कर क्षमा प्रार्थना भी न कर सका। इसके लिए मैं तुम्हारे निकट अपराधी हूँ। क्षमा प्रार्थना करने म भी लज्जा मालुम पड़ती है। तुम अपनी उदारता स यदि क्षमा कर दो तो यह तुम्हारा महत्व है। मैं अब नवलकिशोर प्रेस मे काम करूँगा। अत घर के ही पते पर पत्रादि लिखना—'सुधा' या 'गंगा पुस्तकमाला' के पते पर नहीं।'

अपराधी
—ह०

दो वर्ष बाद फिर जीविका का प्रश्न मडराने लगा।

'समाज' कार्यालय,
कानपुर
२८-२-३१

"बन्दे ! क्या एकदम रूठ हो ? पत्र का उत्तर भी नहीं देते फिर भी कुछ पुरानी मुलाकात का ख्याल करना चाहिये। कृपा पत्र तो दीजिये। 'समाज' के लिए कहानी जब लिखना, तभी भेजना। आशा है, आपके इस कृपा का पत्र अवश्य दृष्टिगोचर होगा। मैं आपकी उदार चित्तता से पूर्ण आशा है।'

—ह०

तीन वर्ष बाद—

माधुरी, लखनऊ
१५-१०-१९३४

भाई व्यास जी,

प्रणाम। आप सुन कर प्रसन्न होंगे, मैं फिर 'माधुरी' का सम्पादक बन बैठा हूँ। पर आपकी सहायता मुझे पहले की ही तरह मिलनी चाहिये, तभी मैं कुछ सफल हो सकूँगा। मुझे आशा ही नहीं, विश्वास भी है, कि आप शीघ्र ही अपनी कहानी भेज कर मुझे अनुगृहीत करेंगे। आपका चित्र भी साथ आना चाहिये। पूर्ववत् कृपाभाव रखें, यही प्रार्थना है। उत्तर अवश्य दें।

—रू०

पाँच वर्ष बाद—

माधुरी, लखनऊ
२०-११-१९३९

'लेख दिसम्बर में छपा " आपने अपनी प्रतिभा का जो परिचय दिया था, उसी से मैंने आपका साहित्य संसार में स्वागत किया था। आशा है, अब मौज के साथ ही अपनी प्रतिभा को भी निखरने का आप अवसर देंगे। अभ्यास ही प्रतिभा को चमकाने वाली सान है। आप साहित्य क्षेत्र में जितना आगे बढ़ेंगे, उतना ही मुझे हर्ष होगा। कारण, आप प्रिय प्रसाद जी के अनुगत अनुजनम हैं। उनका नाम बढ़ाना तुम्हारा ही काम है। बच्चों को प्यार।"

हितैषी
—रू०

'माधुरी' बन्द हुई। 'वासन्ती' की योजना बनी।

वासन्ती
२८-७-५०

भाई विनोद,

एक तुम से अनुरोध है। प्रथम सख्या के लिए तुम कुछ जरूर भेजो। उसके बिना मुझे सन्तोष न होगा। आशा है, तुम मुझे निराश न करोगे। मैं प्रतीक्षा करूँगा।

—रू०

ऊपर प्रकाशित पत्रों से पाडेय जी के हृदय की विशालता का परिचय भली भाँति मिल जाता है। कितना सरल और नम्र उनका स्वभाव था। बड़े होकर भी किस तरह क्षमा माँग रहे हैं।

भावावेश में कभी आप कभी तुम का प्रयोग कितना स्वाभाविक प्रतीत होता है। प्रसाद जी के स्वर्गवास के बाद जब वे काशी आये तो कई दिनों तक मेरे यहाँ ठहरे थे। पूर्व समय के सब रगीन चित्र धुधले पड गये थे।

जिस कमरे में वह बैठे थे उसी के सामने छत पर उनके आगमन के उपलक्ष्य में किसी समय वह सगीत योजना हुई थी जिसके सम्बन्ध में 'उग्र' जी ने 'आज' में लिखा था।

प्रसाद के बिना हमारा साहित्याकाश अन्धकारपूर्ण था। निशानाथ अस्त हो गये थे। अब वह [illegible] एक कहानी बन गये थे।

पांडेय जी जिन्दादिल थे। किसी भी चहल पहल में भाग लेने के लिए वे सदा ही प्रस्तुत हो जाते थे। प्रसाद जी के स्वभाव में सदैव ही [illegible] समुचित वातावरण की एक सीमित रेखा थी। उनके इधर-उधर जाना उनकी प्रतिष्ठा के अनुकूल नहीं समझा जाता था। कभी कभी मेरे और पांडेय जी के लिए यह [illegible] हो जाता। अक्सर नौका पर हम दोनों [illegible] होकर विहार करते।

तब प्रसाद जी मुस्कराते हुए कहते—मैं समझ गया, आप लोगों की कहीं निछद्दम में छनेगी।

हम लोग भी उनसे कोई बात छिपाते नहीं थे, इसलिए साफ-साफ बता देते थे। उनकी स्वीकृति मिलने पर ही हम लोग उनसे अलग होते थे। लेकिन यह अलग होना भी बड़ा कठिन हो जाता था। इसकी भूमिका में घंटों लग जाते, क्योंकि प्रसाद जी हम दोनों को छोड़ कर अकेले रहना पसन्द नहीं करते थे। अतएव इधर-उधर की बातों में कुछ ऐसा बहला लेते कि मैं पांडेय जी से संकेत करता ही रह जाता और प्रसाद जी बोल उठते—'अच्छा जाओ भाई, मैं समझता हूँ तुम लोगों को अब खल रहा है।' और वह पुकार उठते—'अरे रन्नू पान ले आ।'

इस तरह आध घंटा पान में और लग जाता, तब कहीं खिसकने का अवसर मिलता। यह अवसर १०-११ बजे रात के पहले कभी न मिल पाता था, क्योंकि जब भोजन कर वे सोने जाते तभी हम दोनों मुक्त होते थे।

प्रसाद जी की गली पार करते हुए मैं कहता—खैर रात तो अपनी है। और बड़े उत्साह से पांडेय जी कदम से कदम मिलाते हुए लंबी डग बढ़ाते मेरे साथ आगे बढ़ते। काशी की सड़कों और गलियों से पांडेय जी चिरपरिचित थे अतएव हम दोनों निश्चित स्थान पर पहुँच जाते और कभी कभी पान वाले की दूकान पर ही स्थान का निश्चय होता था।

दूसरे दिन पूरा विवरण सुन कर ही प्रसाद जी सन्तोष करते थे।

एक बार लखनऊ के बाजार में हम दोनों घूम रहे थे इतने में एक सज्जन ने बड़ी उत्सुकता से आकर पांडेय जी से पूछा—कानपुर का क्या हुआ?

'मुझे नहीं मालूम, मैं क्या जानूँ'—कह कर पांडेय जी आगे बढ़े।

मैंने पूछा—क्या बात है?

उन्होंने कहा—पूछता है कि कानपुर में कनकव्वे की लड़ाई का नतीजा क्या हुआ ?

मुझे बड़ी हँसी आयी। मैंने कहा—उसने तुम्हें तजवीजा भी खूब, पुराने लम्पट को सब पहचानते हैं। वह झेंप रहे थे और मैं खिलखिला रहा था। एक बात यह भी थी कि पाडेय जी मजाक में कभी चिढ़ते नहीं थे। उनकी पोशाक भी अजब लखनउआ थी—काली वास्केट में बाबा आदम के समय की घड़ी की चेन लटकती रहती थी।

मै कहता—मैफिले वीरान जहाँ

और वह चट से बोल उठते—'तुम भी परम '

वे हँसी के दिन, वे उत्साह भरी उमगें, सब कहीं खो बैठा हूँ। हँसी का अन्त अश्रुकणों से होता है। आज इसी के महत्व की समीक्षा कर रहा हूँ।

प्रसाद जी के साहित्यिक उत्थान मे पाडेय जी का कितना सहयोग था, यह प्राय लोग नहीं जानते। 'इन्दु' से लेकर 'माधुरी' तक पाडेय जी ने प्रसाद जी को अपनी प्रतिष्ठित सीमा पर पहुँचा कर मित्रता का जैसा निर्वाह किया था, वैसा आज की दुनियाँ मे सभव नहीं। प्रसाद जी के बाद जब भी पाडेय जी से बातें हुई उन्होंने मुझे यही प्रेरणा दी कि उनकी कीर्ति अमर करना ही हम लोगों का लक्ष्य होना चाहिये।

पाडेय जी शुद्ध सनातनी परिवार के व्यक्ति थे। हिन्दू आदर्श ही उनका ध्येय था। फिर भी समयानुसार ही वे चलते थे। साहित्य में यथार्थवाद के नग्न चित्रण को वे नापसन्द करते थे। हमारा व्यक्तिगत जीवन चाहे जैसा हो, लेकिन साहित्य को भ्रष्ट करना उचित नहीं, क्योंकि इसका प्रभाव अच्छा नहीं पड़ता। अवस्था होने पर अब मैं भी अनुभव

यही कहता है कि उनका सिद्धांत भारतीय जीवन के लिए उचित और उपयुक्त है।

१२ जून १९५८ ईसवी की भयानक गरमी के दिन पांडेय जी चल बसे। इसकी सूचना उनके पुत्र चि० राजेन्द्र पांडेय के एक कार्ड से मुझे मिली। वह दिन अगणित स्मृतियों पर धूल उड़ा रहा था, हृदय धड़क रहा था, सुना था बेचारा साहित्यकार लू लग जाने के कारण शरीर छोड़ बैठा। और आने वाले युग में एयर कंडिशन और उपयुक्त तापमान में उसकी एक एक चिट एक एक शब्द का अन्वेषण करेगी स्वतन्त्र भारत की जिज्ञासु पीढ़ी—विश्वविद्यालयों के भावी डाक्टरेट।

जैनेन्द्रकुमार जैन

जिन दिनों प्रेमचन्द जी माधुरी का सम्पादन कर रहे थे उन्हीं दिनों एक उभरते हुए लेखक की एक रचना माधुरी में प्रकाशनार्थ मिली थी। प्रेमचन्द जी को वह रचना पसन्द न आई और उन्होंने वापस कर दी। बाद में उस युवक लेखक से परिचय होने पर प्रेमचन्द जी ने उसको प्रोत्साहन दिया और उसकी कहानियाँ छापने लगे। घनिष्ठ होने से जैनेन्द्र की आत्मभक्ति का विशेष प्रभाव पड़ा। वह प्रेमचन्द्र जी के प्रति इतनी भक्ति तथा श्रद्धा का प्रदर्शन करते थे कि कोई कठोर हृदय भी पिघल जाता, फिर प्रेमचन्द जी तो सरल हृदय के थे। बात बात में बाबू जी, बाबू जी का सम्बोधन सुनने वाले को भ्रम में डाल देता था। लेकिन आगे चलकर हिन्दी संसार को विश्वास हो गया कि वास्तव में जैनेन्द्र के साहित्यिक उत्थान कर्ता प्रेमचन्द ही हैं।

उन दिनों काशी में प्रसाद जी का निवास साहित्यिक केन्द्र था। [illegible] कहानियों ने उनकी [illegible] की मान्यताएँ स्थापित की थीं। [illegible] छोटी कहानियों का [illegible] था। [illegible] कहानियाँ लिखने के लिए [illegible] बराबर प्रसाद जी [illegible] आदर [illegible] और वह [illegible] और चकित कर देते थे। आदर में [illegible] होने का [illegible] था। इसलिए

उनके स्कूल की कहानियों में श्री राय कृष्णदास की और मेरी कहानियाँ मानी जाने लगीं। इस मान्यता में राय साहब और मुझे गौरव के अतिरिक्त कोई आपत्ति न थी।

प्रेमचन्द इतनी छोटी भावात्मक कहानियों को आरम्भ में गद्यकाव्य ही समझते थे। हँस के प्रकाशन से ऐसी कहानियों के सम्बन्ध में उनका दृष्टिकोण भी बदला था।

उधर जैनेन्द्र प्रसाद स्कूल की महत्ता देखकर प्रेमचन्द स्कूल की स्थापना में व्यग्र हो उठे। उसके पहले कौशिक और ज्वालादत्त वैसी ही कहानियाँ लिखते थे जैसी प्रेमचन्द स्कूल की कही जाती हैं। संक्षेप में भावना वाला प्रसाद स्कूल और प्लाट वाला प्रेमचन्द। चरित्र-चित्रण तो दोनों स्कूलों की रचनाओं में आवश्यक था। हिन्दी में प्रेमचन्द जी कहानियों के आरम्भकर्त्ता नहीं थे। वह उर्दू से हिन्दी में आये थे। उनके आने के पहले बहुत सी मौलिक कहानियाँ हिन्दी में प्रकाशित हो चुकी थीं। यह तो ऐतिहासिक बातें हैं लेकिन प्रेमचन्द स्कूल की चर्चा उनके माधुरी-सम्पादन काल से ही आरम्भ हुई।

जैनेन्द्र प्रेमचन्द के शिष्यों में अगुआ बने। उनके साथ दिल्ली के एक नवयुवक ऋषभ चरण भी आते थे जो प्रेमचन्द और उग्र दोनों का चला हुआ रास्ता पार कर चुके थे। जैनेन्द्र और ऋषभ दिल्ली से साथ ही चलते थे और साहित्यकारों से बार बार भेंट कर चिर परिचित अन्तरंग बनने का अवसर प्राप्त करते रहे। इस तरह प्रेमचन्द की प्रशंसा और आशिर्वाद के बल पर ही जैनेन्द्र आगे बढ़े।

मेरा उनका जब आरम्भिक परिचय हुआ तभी वह मुझे अपनी विशिष्टता से परिचित करा गये। मेरे और उनके स्कूल की भाँति प्रकृति में भी अन्तर था। मैं खुला और वह गम्भीर। भाषा भी उनकी अपनी।

इसलिए परिचित होते हुए भी वह अपने दर्शनशास्त्र के कारण मेरे निकट नहीं आ सके। वह जब भी आये मैंने उनका स्वागत किया। मेरी फाइल में उनके केवल दो तीन पत्र ही प्रमाणित करते हैं कि चौराहे में हम लोग विलग हो गये।

दिल्ली

७-८-३०

प्रिय भाई व्यास जी,

मैं यहाँ सकुशल पहुँच गया। लखनऊ में प्रेमचन्द जी से भी और राम सेवक जी से भी भेंट हुई। 'कंकाल' की आलोचना के बारे में जिक्र हुआ था। एक प्रति उन्हें, और एक प्रति मुझे भेजने से काम चल जायगा। खुशी से मेरी लिखी विस्तृत आलोचना उन्हें स्वीकार्य होगी, ऐसा उन्होंने मुझ से कहा। 'कंकाल' की जिल्द अब तैयार होती ही होगी। मुझे किसी तरह '[illegible]' जल्दी भिजवाने का ध्यान रखें। कब से उसे देखने की इच्छा है। आपकी पुस्तकों की समालोचना क्रमशः 'महारथी' में निकलती रहेगी। एक बात और है। उग्र जी की 'चिनगारियाँ' की बड़ी आवश्यकता आ पड़ी है। आपके पास से वह अवश्य ही प्राप्त हो सकती है, इसमें मुझे तनिक सन्देह नहीं। उसे जरूर-जरूर भेज दें। कल 'फाँसी' भेज रहा हूँ। पत्र देते रहियेगा। मेरे योग्य सेवा लिखें और कृपा बनाये रखें। श्री प्रसाद जी को आदर वंदे कह दें।

आपका

जैनेन्द्रकुमार

१९३८ ई० में मैं दिल्ली गया था। [illegible] का सम्पादन भार मिला था। उन दिनों मुझे पत्रकारिता का शौक था। मैं अपने चाचा

प्रो० हरिशंकर भट्ट के यहाँ ठहरा था। एक दिन जैनेन्द्र जी का यह चिट्ट मिला।

भाई विनोदशंकर जी,

मैंने कहा, आपके दर्शन तो करूँ। सब जगह ढूँढता ढाँढता आखिर यहाँ आया। मैं ७ नम्बर दरियागंज में, ला० मक्खन लाल की कोठी में रहता हूँ। आ सको तो कृपा ही है नहीं तो मैं किसी और वक्त फिर भाग्य परीक्षण करूँगा।

जैनेन्द्र कुमार
२४-१२-३४

इसके बाद किसी दिन लाला मक्खन लाल की कोठी में खोजता हुआ दिल्ली में मैं उनसे मिला था। उस समय लेखक से अधिक उनका दार्शनिक रूप मुझे कुछ नीरस मालूम पड़ा।

प्रेमचन्द जी के बाद हँस का सम्पादन करने वह काशी में कुछ समय तक रहे। लेकिन मेरी उनकी आखिरी भेंट १९३६ में श्री मैथिलीशरण स्वर्ण जयन्ती के अवसर पर हुई थी। वह घटना मेरे लिए विशेष स्मरणीय इसलिए हो गई कि तांगे में आगे मैथिलीशरण जी बैठ गये थे और पीछे प्रसाद जी बैठे थे। जैनेन्द्र जी भी लपके, मैं खड़ा हो गया तब प्रसाद जी ने डाटते हुए कहा—बैठते क्यों नहीं? लेकिन जैनेन्द्र जी को पीछे छोड़ कर मुझे बैठना ठीक नहीं मालूम होता था। विवशता यह थी कि तांगे में तीन से अधिक गुजाइश नहीं थी अतएव मुझे आज्ञा का पालन करना पड़ा और पं० नेहरू का जुलूस देखने हम तीनों उसी तांगे पर गये थे।

ज्वालादत्त शर्मा

'द्विवेदी युग' के निर्माता पण्डित महावीर प्रसाद द्विवेदी ने अपने युग में जिन लेखकों और कवियों को हिन्दी लिखने की प्रेरणा दी थी उनमें पण्डित ज्वालादत्त शर्मा का विशिष्ट स्थान है।

पण्डित ज्वालादत्त शर्मा का जन्म मुरादाबाद के एक कर्मकाण्डी परिवार में १८८८ में हुआ था। उनकी शिक्षा घर पर ही हुई थी। शर्मा जी का संस्कृत भाषा का व्यापक अध्ययन था।

१९१३ में हरिद्वार में द्विवेदी जी से शर्मा जी की भेंट हुई। द्विवेदी जी बड़े कुशल पारखी थे। उन्होंने शर्मा जी के प्रति अपने मन में एक धारणा बना ली और उन्हें 'सरस्वती' में लिखने के लिए आमन्त्रित किया। शर्मा जी का अध्ययन उर्दू और बंगला भाषा का विशेष रूप से था। अतएव हिन्दी में लिखने के लिए उनके सम्मुख एक विस्तृत क्षेत्र था।

१९१३ से शर्मा जी बराबर 'सरस्वती' में लिखते रहे। उन दिनों उनकी कई कहानियाँ भी 'सरस्वती' में प्रकाशित हुई थीं। कहानियों के प्रति मेरा आकर्षण बचपन से ही था। अतएव 'सरस्वती' की फाइल में शर्मा जी की लिखी [illegible], [illegible], [illegible] आदि कहानियाँ पढ़ कर मेरे हृदय में उनके प्रति एक विशेष [illegible] [illegible] हो गया था।

१९१६ में मुरादाबाद से शर्मा जी के सम्पादन में 'प्रतिमा' नाम की एक कहानी प्रधान पत्रिका प्रकाशित हुई थी। प्रति मास उसके अंक की प्रतीक्षा में मैं रहता था। मुझे वह पत्रिका बहुत पसन्द थी। अतएव शर्मा जी के प्रति आदर मेरे मन में बढ़ता ही गया। 'मधुकरी' का सकलन करते समय मेरा उनका पत्र-व्यवहार हुआ और तब से बराबर सम्बन्ध बढता हुआ घनिष्ठतम हो गया।

मेरी एक प्रवृत्ति यह भी थी कि बूढे और विद्वानों के सम्पर्क में ही रहना मुझे प्रिय था। शर्मा जी जब पहली बार मेरे यहाँ ठहरे तो उनके व्यक्तित्व और अध्ययन का प्रभाव मेरे ऊपर दृढ हो गया। वे बड़े कुशल वक्ता थे। बातचीत के सिलसिले में उर्दू शेर और संस्कृत के पद्यों को वे इस तरह उपस्थित करते कि सक्षेप में ही सम्पूर्ण परिस्थिति का परिचय दे देते थे।

मेरे सभी बूढे मित्र एक-एक कर इतने थोड़े समय में साथ छोड़ कर चले जायँगे, ऐसी कभी मेरी कल्पना भी नहीं थी। अब उनका सस्मरण लिखने के लिए उनके लिखे हुए पत्रों को पढता हूँ तब वे सब घटनाएँ कल की ही प्रतीत होती हैं। शर्मा जी के २५-३० पत्र मेरी फाइल में सुरक्षित हैं। उनमें से कुछ पत्रों का अंश देकर मैं उनकी लेखनी से उनका परिचय प्रस्तुत करने की चेष्टा करूँगा।

मुरादाबाद

चै० कृ० १४, सोम, ८५

प्रिय व्यास जी, नमस्कार!

शायद आप जिस समय मुझे ५ अप्रैल वाला पत्र लिख रहे थे उसी समय मैं आपका चित्र चरित्र 'सरोज' में पढ़ रहा था। आपका चित्र देख कर मेरे दिल में चरित्र पढ़ने की इच्छा हुई। उसे पढ कर मुझे

कुछ आपके नाम का स्मरण हुआ। शायद वे सज्जन यही हैं जिन्होंने कहानियों के सम्बन्ध में पत्र लिखे थे और जिनके सम्बन्ध में प्रवासी लाल जी वर्मा ने भी अपने किसी पत्र में कुछ लिखा था। पिछले दिनों २-३ बार ऐसे ही विचार मेरे हृदय में कई बार उठे। पिछले वर्ष मैं कई बार काशी गया था, आपका चरित्र और उससे बढ कर—वह इसलिए कि उसे देख कर ही चरित्र पढने की ओर प्रवृत्ति हुई थी—चित्र देख कर मैंने यह भी सोचा कि ऐसे 'खुलासा दिल' नहीं खुले दिल वाले सज्जन से मैं क्यों न मिला, आपका पता लगाने के लिए मैं वर्मा जी का पता तलाश करने की वृत्ति का अनुसन्धान कर रहा था कि इतने में ही आपका पत्र आ गया।

ज्वालादत्त शर्मा

इस बार काशी आकर वे मेरे यहाँ ठहरे थे। भोजन के बडे शौकीन थे। उनके सत्संग में बडा आनन्द रहा।

३०-१०-२९

"मैं सकुशल मकान पहुँच गया। आपके कृपाभाव पूर्ण आतिथ्य के लिए एक बार और धन्यवाद करता हूँ।

श्री प्रसाद जी और शिवपूजन सहाय जी को भी मेरी ओर से धन्यवाद दीजियेगा। यदि उचित समझें तो विद्वद्वर राखाल बाबू से भी मेरा प्रणाम कह दीजियेगा।

अपने स्वास्थ्य और जेब का विशेष ध्यान रखियेगा।"

ज्वालादत्त शर्मा

मेरे साथ वे प्रसाद जी के यहाँ गये थे। दूसरे दिन जब प्रसाद जी मेरे यहाँ आये तब भी नाटकों आदि पर चर्चा होती रही। शर्मा जी ने जाने

पर मैंने प्रसाद जी से पूछा—कैसे आदमी हैं ? मुझे तो बड़े रहस्यपूर्ण मालूम पडते हैं।

प्रसाद जी किसी के सम्बन्ध में जल्दी अपना मत प्रकट नहीं करते थे। वे मुस्कराये। कहने लगे, तुमने नहीं समझा क्या ?

मैंने कहा—आपने क्या समझा ?

उन्होंने कहा—योग्य हैं, किन्तु जरूरत से ज्यादा दरबारी।

मैंने कहा—शाही दरबार से निकाले हुए। इस पर बडी हँसी हुई।

शर्मा जी का रहस्यपूर्ण जीवन समझने में मुझे अनेक वर्ष लग गये और कुछ भी पता न चला कि उनका यह 'चक्कर' क्या है। कभी दिल्ली, कभी आगरा, कभी बम्बई और कभी श्रीनगर से उनका पत्र आता था। मैं बड़े आश्चर्य में पड़ता था कि क्या बात है कि शर्मा जी बराबर चक्कर लगाते रहते हैं। केवल भ्रमण के खयाल से तो आदमी एक ही बार नगर देखने जाता है, फिर बार-बार उन शहरों में उनके जाने का उद्देश्य क्या है ? मैंने अपने पत्र में उनसे पूछा कि कृपया आप इसे स्पष्ट करें।

उत्तर में उन्होंने लिखा—चक्कर का रहस्य 'गालिब' ने बहुत पहले इस शेर में बता दिया है, क्या आपने नहीं सुना है—

'मानये दश्ते नवर्दी
कोई तदबीर नहीं,
एक चक्कर है मेरे
पाँव में जंजीर नहीं।'

गालिब के इस शेर से कोई मतलब स्पष्ट न हुआ। मैंने अपने मन में समझा कि बड़े लोगों के यहाँ उनकी पूछ है, इसलिए आग्रह पर जाते

होंगे, क्योंकि बनारस में कई दिनों तक उनके साथ रह कर मैंने देखा कि उनकी बातों से जी नहीं ऊबता था।

शर्मा जी ने लिखना बन्द कर दिया था। इस पर मैंने लिखा कि आप क्यों नहीं लिखा करते ? तो उत्तर मिला—'आपकी कृपा से प्लाट की क्या कमी है, प्रत्येक मनुष्य प्लाट का पिटारा सिर पर रखे घूम रहा है, कोई मिले और उसका चित्र खींचे, पर अपना तो 'कोडक' ही खराब हो रहा है।'

उनके इस कार्ड में चक्कर का विवरण है—

१७-४-३०

'आखिर आपके पत्र के उत्तर का मुहूर्त आ ही गया। पिछले दिनों पंजाब की ओर गया था। अमृतसर में आपको पत्र लिखने के लिए कलम उठायी थी कि विघ्न हो गया। फिर ४ अप्रैल को फैजाबाद में आपको पत्र लिखना चाहता था कि न लिख सका। इसलिए कहता हूँ कि आज मुहूर्त आ ही गया।

मैं काशी अलबत्ता गया था, आपके मकान का दर्शन कर आया, ऊपर के कमरे में पर्दे पड़े हुए थे, रायवाल बाबू के पीठ के दर्शन भी हुए। २-३ दिन रहा था। प्रसाद जी से मिलने का अवसर न मिल सका, नागरी प्रचारिणी में गया था, वहाँ कोई उत्सव था, शांतिप्रिय जी वहाँ मिल गये थे। काम इतना था कि किसी से भेंट न हो सकी, आप होते तो कुछ होता।'

ज्वालादत्त

हरिद्वार वह प्राय जाया करते थे।

हरद्वार

१८-५-२९

'इस साल ही [illegible] और [illegible]

गये थे। आप आ सकते तो बड़ा आनन्द होता, खैर, यार जिन्दा सोहबत बाकी। गर्मियों में खास कर वैशाख में एक फेरा हरद्वार का जरूर लगाया कीजिये। यहाँ गंगा में जल थोड़े ही बहता है, पिघला हुआ ब्रह्म जल के रूप में बहा करता है, कुछ विलक्षण रहस्य और आनन्द है जो अनुभव ही हो सकता है।'

श्रीनगर

१७-६-३०

'आप एक बार इधर की यात्रा अवश्य करें। कवियों के लिए तो यह भूमि कल्पतरु है। आप यहाँ दो-चार मास रहे तो कई उपन्यास लिख कर ले जा सकते हैं, क्योंकि एक तो आपका मस्तिष्क उपजाऊ और फिर यहाँ की ठण्डी हवा में फूलों की गंध के साथ मन को उत्तेजित करने का विचित्र सामर्थ्य भरा हुआ है।'

मटन, कश्मीर

२२-६-३०

'यह प्रदेश विचित्र है। कई जगह देख चुका हूँ एक से एक बढ कर है। यह पत्र जहाँ से लिख रहा हूँ उसका क्षुद्र नाम मार्तण्ड क्षेत्र है, कश्मीर की यह गया है। बडा सुन्दर और आरोग्यप्रद स्थान है। फिर इधर रहना बहुत सस्ता है। घी, दूध, दही बहुत सस्ता और बहुत उमदा मकान यात्रियों के लिए हर जगह बने हुए, घर जैसे आराम के। आप अवश्य इधर की यात्रा कीजिये। इस बार इधर भीड़ बहुत कम है, इसलिए और भी सुभीता है।'

शर्मा जी से घनिष्ठता काफी बढ गयी थी और पत्र व्यवहार बराबर होता रहता। 'मधुकरी' के सकलन काल में कहानियों के सम्बन्ध में उनकी सम्मति का मैं स्वागत करता था। जैसे—'मेरा भी यही मत है कि

गुलेरी जी की 'उसने कहा था' कहानी से श्रेष्ठ कहानी हिन्दी में नहीं लिखी गयी। मैंने इस कहानी पर उन्हें कोई १० बार बधाई दी थी।'
(१९ अप्रैल २९)।

'प्रसाद जी तो इस समय विभूति हैं। राजा राधिकारमण प्रसाद सिंह की क्या बात है, उनकी 'तरंग' पढ कर जो आनन्द आया था वह आज भी याद है।'
(२३ मई २९)

शर्मा जी की एक प्रबल मनोवृत्ति थी कि वह विद्वानों से सम्पर्क स्थापित कर लेते थे और अपने मित्रों को भी एक दूसरे से आकर्षित कराते थे। प्रसाद जी के नाटकों के समालोचक 'शिलीमुख' से मेरा परिचय शर्मा जी के द्वारा ही हुआ था। मिस्टर शेरिफ, मुरादाबाद के मजिस्ट्रेट ने उन्हीं की प्रेरणा से मेरे पास पत्र लिख कर 'मधुकरी' की प्रशंसा की थी। वे संस्कृत के बड़े विद्वान् अंग्रेज थे।

पत्र न लिखने पर भी वह भूलते नहीं थे।

मुरादाबाद
५ सितम्बर, १९२९

'बेशक आपके ७ अगस्त के पत्र का उत्तर मेरे जिम्मे बाकी है, यह बात चाहे आप सौ आदमियों के बीच कहला लीजिये। सफाई में इतना कहना है कि उसके उत्तर में मैं स्वयं बशरीर आना चाहता था, किन्तु [illegible] था काशी की राह को मैं [illegible] हुआ [illegible]। [illegible] मेरा मामला हो गया। अभी राय कृष्णदास जी के एक पत्र के उत्तर में मैंने आपका जिक्र किया था और कल फिर उनका एक पत्र आया था उसमें आपका जिक्र था। 'मास्टर [illegible] आने में [illegible] मित्रों [illegible] नहीं दीख पड़ता था, किन्तु '[illegible]' [illegible] था।'

शर्मा जी अपने विचार स्पष्ट रूप से प्रकट कर देते थे।

हिन्दी संसार के आरम्भिक कहानी लेखकों में प्रसाद, कौशिक और ज्वालादत्त ही थे, प्रेमचन्द और सुदर्शन तो बाद में उर्दू से हिन्दी की ओर बढे थे। जिसकी रचनाए पढ़ कर मैंने कहानियाँ लिखने का अभ्यास आरम्भ किया था उसकी लेखनी से अपने प्रति यह भाव पढ कर प्रसन्नता होगी, यह स्वाभाविक था।

बहराइच
८-१०-३०

'कल फैजाबाद से इधर आते गोंडे में बुकस्टाल से 'भारत' का एक अंक खरीदा। मजे की बात यह हुई कि उसमें आपकी 'उलझन' निकल पड़ी फिर तो मैं भी उसमें उलझ गया। 'भारत' खरीदना सुफल हो गया। 'लीडर' लेने गया था, वह उस समय तक आया नहीं था। अभावे शालिचूर्णं भारत ही ले आया। सच यह है कि आपने कहानी खूब लिखी है, एक बात कह कर पाठक को असमंजस में छोड़कर आप सफाई और अदा के साथ अलग जा खड़े हुए हैं यह हाथ के पक्केपन की निशानी है।

मेरा एक कार्ड आप पर बटाक है। उसमें ३२) सेर वाला २) का पत्ती तम्बाकू मँगाया था। आपने सोचा होगा यह अच्छा पाप पीछे लग गया, आता है तो माल खा जाता है, कहानी किताब कोई देता नहीं, ऊपर से अब बेगारें लेने लगा, लेकिन जनाब व्यास जी साहब यहाँ पहले तो किसी को पकड़ते नहीं, अपने सौभाग्य या उसके दुर्भाग्य से जब पकड़ लेते हैं तो यों छोड़ने वाले नहीं।'

ज्वालादत्त

शर्मा जी निर्भीक बोलने वाले थे। महाकवि रवि बाबू के सन्मुख भी जाकर वह गोरा की प्रशंसा कर आये और उन्हें यह भी [illegible] किया

कि उसमें अंकित परेश बाबू का चरित्र महाकवि के पिता का ही चित्रण है। इसपर रवि बाबू ने स्वीकार किया था कि इस सम्बन्ध में केवल दो ही व्यक्तियों ने कहा है, एक उनके परिवार से परिचित बंगाली सज्जन हैं और दूसरे शर्मा जी और वास्तव में इन दोनों का अनुमान ठीक है।

शर्मा जी का जीवन-अनुभव बड़ा विशाल था। इसमें कोई भी सन्देह नहीं कि शाही जमाने में वे उत्पन्न हुए होते तो नवरत्नों में से एक होते। वे बड़े मिलनसार और हसमुख थे, किन्तु वृद्धावस्था उनकी चिन्ता और झंझटों में ही व्यतीत हुई। उनका एक लड़का साधु हो गया था और अपनी पत्नी और सन्तान को छोड़कर घर से चला गया था। इसलिए उनका शेष जीवन सुखद नहीं कहा जा सकता।

बहुत समय के बाद उनके चक्कर का रहस्य मुझे विदित हुआ। वह किसी तरह का सट्टा करते थे। मुरादाबाद के किसी सेठ महाजन से भी उनका व्यावसायिक सम्बन्ध था और इसी सिलसिले में पाव में जंजीर नहीं थी। परिवार की जिम्मेदारी उन्हीं पर थी, अतएव पैसों की व्यवस्था में उनका व्यग्र रहना स्वाभाविक था।

१९५८ में हमारे उस कहानीकार का अन्त भी एक कहानी की भाँति हुआ। वह ट्रेन द्वारा मुरादाबाद से दिल्ली जा रहे थे और मार्ग में ही हार्टफेल हो गया।

दिल्ली स्टेशन पर एक कम्पार्टमेंट में कपड़े से ढका एक शव पड़ा था। लोगों ने समझा कोई लावारिस बाबाजी हैं। किसी ने उधर ध्यान नहीं दिया था। अन्त में उन्हें स्टेशन पर लेने के लिए जो सज्जन आये थे उनके बहुत ढूँढने पर पण्डित नागदत्त शर्मा का निर्जीव शरीर मिला।

और इस तरह चक्कर के रहस्यों का अन्त शाहंशाहों की राजधानी दिल्ली महानगरी में ही हुआ।

आनन्द - बन्धु

सम्पूर्णानन्द

काशी में प्रसाद परिषद की स्थापना में भी सम्पूर्णानन्द जी का विशेष सहयोग था। प्रसाद जी के मन में उनके प्रति आदर था। और जब कभी उनकी चर्चा छिड़ती, उनकी विद्वत्ता के सभी कायल होते थे। जिस दृढ़ता से उन्होंने जीवन भर अध्ययन और मनन किया, उसी का पुरस्कार विधाता ने उन्हें देकर आर्थिक रूप में भी सम्पन्न किया। उनके सम्बन्ध में, राजनीतिक-मतभेद होते हुए भी किसी को उनकी साहित्यिकता में सन्देह नहीं हो सकता। और यह तो गर्व की बात है कि लेखक और पत्रकार समुदाय का एक व्यक्ति उत्तर प्रदेश का मुख्यमंत्री हुआ।

'जागरण' का तीन मास तक उन्होंने सम्पादन किया था। प्रसाद जी का उनके प्रति सदैव सद्भाव बना रहा। दोनों ने एक दूसरे के प्रति कभी कोई छेड़छाड़ नहीं की।

अन्नपूर्णानन्द

हिन्दी में हास्यरस के बहुत कम लेखक हैं। उनमें अन्नपूर्णानन्द की रचना लोकप्रिय और शिष्ट हास्य की मानी जाती है। बंगला में 'परशुराम'

ने जो पूर्ति की है, यदि उसी तरह अन्नपूर्णानन्द जी भी हिन्दी में लिखते रहते तो हिन्दी का हास्यरस-भंडार भी खाली न रहता। उनकी रचनाएँ समय के साथ धुँधली न होकर साहित्य की स्थायी सम्पत्ति हैं।

प्रसाद जी से उनका कितना सम्पर्क रहा, इस सम्बन्ध में उन्होंने अपने एक पत्र में लिखा था—

'प्रसाद जी से मैं बहुत कम मिला हूँ। एकबार 'भूत' के सम्पादन-काल में उनसे मिला था। मैं दो बार उसके पहले मिल चुका था। वे अपने चौतरे पर खड़े थे। बहुत दुर्बल आदमी को देखकर मुझे खयाल नहीं हुआ कि वही खड़े हैं। और उनसे पूछा कि प्रसाद जी कहाँ हैं? और कब मिलेंगे? उन्होंने मेरी ओर थोड़ी देर देखा, फिर मुस्कराकर कहा—'मैं ही हूँ।' बीमारी के कारण वह इतने दुर्बल हो गये थे।

दूसरी बार मैं जब उनसे मिला तो बहुत अच्छे 'मूड' में थे। वह उन्हीं दिनों 'कामायनी' लिख रहे थे और एक घंटे तक उन्होंने मुझे 'कामायनी' सुनायी।

बस, यही मेरी प्रसाद जी के विषय में जानकारी है।'

—अन्नपूर्णानन्द

परिपूर्णानन्द वर्मा

अब हम इन तीनों भाइयों में सब से छोटे श्री परिपूर्णानन्द वर्मा का मेरे और प्रसाद जी के साथ जो सम्पर्क रहा, उस पर कुछ लिखूँगा। परिपूर्णानन्द मेरी उस मण्डली के साथी हैं, जो स्वच्छन्दता के मार्ग में, भूली भटकती चली जा रही थी। उन दिनों साहित्य का अंकुर विकसित होकर फूला फला नहीं था न हम लोग साहित्यकार के रूप में ही प्रसिद्धि पा चुके थे। मनोरंजन और मस्ती ही हमारा स्वाभाविक अधिकार बन कर निखरता था।

परिपूर्णा बहुत जिन्दादिल और मजाक करने में एकदम मुँहफट हैं। मेरी उनकी जोड़, सदैव सामना होने पर भिड़ जाती थी। जीवन में हाहाकार का स्वर धीमा पड़ जाता था और उल्लास तथा अट्टहास सबको पछाड़ कर मैदान में अपना स्वरूप प्रकट करता था। प्रसाद जी बगल में बैठ कर सब रस निचोड़ते थे। लेकिन कभी-कभी इस रस निचोड़ने में समूचा गिलास ही लुढक जाता था और बेलुत्फी का वातावरण अनायास ही उपस्थित हो जाता था। तब आगे उससे शिक्षा ग्रहण कर सावधान रहने का अनुभव होता था। लेकिन जोड़ में, दो में से एक पछाड़ खाकर जब चित्त होता, तभी खीझ कर अपमानित होने का आश्रय लेकर अपशब्दो की दुहाई देने लगता। लेकिन हम दोनों के बीच कभी ऐसा नहीं हुआ। इसका सबसे बड़ा कारण यह भी था कि भीतर से हम दोनों में बहुत स्नेह था। धूल पोंछ कर ही मन-मुटाव विस्मृत हो जाता था।

बीच चौक की सड़क पर जब कभी बाबू रामचन्द्र कपूर के साथ उधर से आते हुए परिपूर्णा दिखाई पड़ते तो प्रसाद जी के साथ रहने पर भी बाजार में शिष्टता का बन्धन मैं तोड़ बैठता था। प्रसाद जी दृष्टि गड़ा कर अंकुश लगाते लेकिन अन्त में वह भी मुस्कुरा पड़ते, मेरे यह कहने पर कि हम दोनों का सम्बन्ध ही ऐसा है अतएव लाचारी है।

परिपूर्णानन्द वर्मा परिश्रमी और उद्योगी व्यक्ति हैं। उन्होंने अपने जीवन की विभिन्न परिस्थितियों को पार कर अपना मार्ग स्वयं प्रशस्त किया है। अतएव उनकी सफलता पर बहुतों को ईर्ष्या होती है। लोगों को टीका-टिप्पणी का सहारा लेना पड़ता है। क्योंकि दूसरे के सम्बन्ध में मत प्रकट कर देना तो सब से सरल कार्य है।

समवयस्क होने के कारण नगर में परिपूर्णा और उग्र का बराबर

आमना-सामना होता रहा। उग्र जब मेरे साथ रहते तो परिपूर्णा खिसक जाते थे। मेरा प्रहार तो उन्हें सह्य होता, लेकिन उग्र की उग्रता से वह मन ही मन भयभीत रहा करते थे। क्योंकि स्पष्टता के समर्थन में उग्र जब कभी 'अड़ाना' का अलाप लेते तब उनसे होड़ लेना परिपूर्णा के सामर्थ्य के बाहर की बात थी।

अपनी आर्थिक स्थिति को सुदृढ करने में परिपूर्णानन्द ने कितने रंग बदले, यह मैं भलीभाँति जानता हूँ। लेकिन आगे बढ़ने वाले सैनिक मुड़ कर पीछे नहीं देखते, प्राय साहित्य का सहारा लेकर, अर्थ-विजयी राजनीति के अणु को ही शस्त्र समझते हैं। रंग बदलने वाला बहुरूपिया मुखड़ा उनके पर्सनल और प्राइवेट अलबम में संगृहीत, किसी पुराने टेबुल के ड्रावर में अवश्य ही रखा रहता है।

उग्र जब 'विक्रम' का सम्पादन बम्बई से करते थे, तब २१ दिसम्बर १९४७ के अंक में, परिपूर्णानन्द का एक लेख 'कांग्रेस और चोर बाजार' प्रकाशित हुआ था। उसके दूसरे अंक में ही उग्र ने परिपूर्णानन्द के सम्बन्ध में एक नोट लगाया था। पढ़िये—

'विक्रम के गत अंक में कांग्रेसी और चोर बाजार' के बारे में जिन बाबू परिपूर्णानन्द का लेख छपा था वही अब एक दैनिक पत्र के सम्पादक भी हो गये हैं। पत्र का नाम है 'जागरण'। पत्र पूँजीपतियों का मालूम पड़ता है। याने ब्लैक मार्केटियों का समर्थन करते हो उन्नत फ़न प्रणाम। दाहिने हाथ से कांग्रेसी तपस्वी अग्रज श्रद्धेय सम्पूर्णानन्द का एक पाँव पकड़े बायें हाथ से अमीर श्री रामरतन गुप्त का चरण पकड़ने वाले कामरेड परिपूर्णानन्द का ही यह कायथ खोपड़ी है, जो अगर कार्तिक की अमावस्या की आधी रात को चेताने को मिल जाय तो आदमी को विभूति मारक आगे के मारे भूल सिद्ध हो जायँ।'

जिस 'जागरण' का सम्पादन बाबू परिपूर्णानन्द वर्मा ने कानपुर से आरम्भ किया था, उस नाम से मेरा बड़ा ममत्व है। 'जागरण' का इतिहास पढ कर लोग समझेंगे कि साहित्य और देश की स्वाधीनता में कार्य करते हुए, पूँजी के अभाव ने ही उसका बलिदान किया और अन्त में उस नाम का उसी से सम्बन्ध स्थापित हुआ। उस नाम के साथ अपना संसर्ग रख कर बाबू परिपूर्णानन्द ने जो मार्ग अपनाया, उसमें उनके हाथ क्या लगा, वही जानें।

लोचनप्रसाद पाण्डेय

पाण्डेय जी के स्वास्थ्य के सम्बन्ध में दो वर्ष पूर्व ही मुझे सूचना मिल गयी थी और मैं यह भलीभाँति जानता था कि उनके साथ ही उस काल की बहुत सी जानकारी भी चली जायगी, लेकिन जान कर भी कुछ नहीं कर सका, यह मेरा ही नहीं हिन्दी साहित्य का दुर्भाग्य माना जायगा। अब पत्रों में उनकी जीवनी छपेगी, उनके कार्यों की प्रशंसा होगी और शोक के प्रस्ताव पास होंगे।

मेरे पत्र के उत्तर में उन्होंने लिखा था।

रायगढ

२५-५-५७

प्रियवर व्यास जी,

पत्र प्राप्त हुआ। अत्यन्त प्रसन्नता हुई।

प्रसाद महोदय के सम्बन्ध में यह जो कार्य आपके द्वारा किया जा रहा है अत्यन्त श्लाघनीय और अभिनन्दनीय है। भगवान उसमें सफलता प्रदान करें।

मेरे निकट प्रसाद जी के दो तीन पत्र थे। पर एक ही पत्र सुरक्षित है वह जो 'चौदह पदी' तथा 'सोनेट्स' लिखे जाने के सम्बन्ध का है।

इन दिनों मेरा स्वास्थ्य अच्छा नहीं रहा करता फिर वार्धक्य जन्य विषमताएँ हैं लिखना पढ़ना विवश होकर सखेद त्यागना पड़ रहा है। मैथली बाबू 'कजली तीज' के दिन अवतरित हुए, उसी सम्वत् के पौषे मासिसिते पक्षे देहाम्या चौथ वासरे मेरा जन्म हुआ—'कवि जीवन सम्वन् पंचदशा' के विचार से भगवान की कृपा से 'सत्तर बार हेमन्त' के दृश्य देख चुके यही क्या अल्प सौभाग्य का विषय है!

आपके पत्र से आपके पूज्य पिता जी की याद आ गयी। उनसे मेरा पत्र-व्यवहार था। उनके पत्र (पियूष प्रवाह) में मेरे एक दो लेख भी निकले थे।

कृपा रखें।

लोचन प्रसाद पाण्डेय

जब पत्र पढ़ कर गम्भीरतापूर्वक मैं विचार करता हूँ 'लिखना पढ़ना विवश होकर सखेद त्यागना पड़ रहा है' तब सब बातें स्पष्ट होती हैं। निरन्तर जीविका से द्वन्द्व करते हुए भी कवि परास्त नहीं होता फिर भी कहता है कि सत्तर वर्ष तक वह जीवित है यही क्या कम है? वह सन्तोष की साँस पर किसी तरह दिन काट रहे थे।

और १८ नवम्बर १९५९ को हृदयगति बन्द हुई। कवि ने अन्तिम वन्दना के गीत समाप्त किये।

वह मैथिली बाबू और मेरे पिता के समकालीन थे। पूज्य द्विवेदी जी के प्रोत्साहन से इन लोगों की कविताएँ सरस्वती में छपती थीं। खड़ी बोली के बचपन के उन दिनों में पाण्डेय जी ने जो भाग लिया था उसे 'खोजी' लोग प्रमाणित करेंगे। जब भाषा का प्रश्न ही उलझा रहा था तब खड़ी बोली की कविता का क्या रूप होता? जिसे आज लोग चूरन वाले का टटका समझते हैं, उसी तुकबन्दी को खड़ी बोली के पद्य ने

शिलान्यास के रूप में आचार्य द्विवेदी जी ने रखा था और प्रथम सम्मेलन के अवसर पर स्वर्गीय श्री श्रीधर पाठक ने कहा था—अब नागरी लिपि और हिन्दी भाषा के यावत् भारतवर्ष में प्रचार पाने के साथ साथ हमारी खड़ी बोली का पद्य भारतवासी मात्र के स्वत्व और अभिमान का अधिकारी बनने की आशा रखता है।

आगे चलकर खड़ी बोली में काव्य के छन्दों की ओर जब आवश्यकता पड़ी तब हिन्दी के उन आरम्भिक कवियों में भी मतभेद का सूत्र उपस्थित हुआ। उसी समय लोचन प्रसाद पाण्डेय ने जनवरी १९१२ के इन्दु में अपने सात प्रश्नों का उत्तर और विवरण प्रकाशित किया था। वह खड़ी बोली में चतुर्दशपदी कविता के जन्मदाता थे। प्रसाद जी के पहले वह और मैथिली बाबू हिन्दी जगत में अपना स्थान बना चुके थे। उनकी कविताएँ बराबर सरस्वती में प्रकाशित हुआ करती थी। १९०७ की सरस्वती में पाण्डेय जी की 'रे मन' कविता की आरम्भ की पक्ति चेतना दे रही थी—

> दुर्लभ नर तनु सुन्दर पाकर
>
> वृथा जन्म क्यों खोता है?
>
> रे मन मूर्ख चेत कर झटपट
>
> मोह नींद क्यों सोता है?

इन्दु के उस अक में हरिऔध, मैथिलीशरण और प्रसाद की मान्यताएँ माननीय थीं। इस सम्बन्ध में मैथिलीशरण जी का उत्तर प्रकट करता है—'कविता के विषय में आपने (लोचनप्रसाद पाण्डेय) जो बातें मुझ से पूछी हैं, भला मैं उनका क्या उत्तर दे सकता हूँ। बाबू जयशंकर जी ने भी काशी में आपके पत्र का जिक्र करके मेरी सम्मति माँगने की कृपा की थी। मैंने कह दिया कि इस विषय में जो आपकी

सम्मति हो, वही सम्मति है। मेरी तुच्छ सम्मति तो यह है कि वेतुकी कविता लिखना सरल है, पर जब रायबहादुर राधानाथ जी की और ही सम्मति है तब इस सम्मति का औचित्य कहाँ रह सकता है। जो हो, मैं वेतुकी कविता का भी उतना ही आदर करने को प्रस्तुत हूँ, जितना तुकवाली का। छन्द वीर ही क्यों कोई भी हो। मैं अब तक एक आध पुस्तक वेतुकी कविता में लिख चुका होता पर कई कारणों से नहीं लिख सका।

स्वर्गीय रामचन्द्र शुक्ल जी के अभिमत में भारतेन्दु काल में ही स्वर्गीय अम्बिका दत्त व्यास ने बंगला की देखादेखी कुछ अतुकान्त पद्य प्रस्तुत किये थे, किन्तु इसका व्यापक प्रयोग प्रसाद ने ही किया था और वही हिन्दी में इसके निर्माता समझे जाते हैं।'

प्रसाद जी ने जो उत्तर पाण्डेय जी को दिया था वह संक्षेप में कितना सारगर्भित है।

'हम ने भिन्न तुकांत कविता लिखने के लिए प्राय २१ और ३० मात्राओं के छन्द व्यवहृत किये हैं। चतुर्दशपदी कविता तीन छन्दों में हम ने लिखी है। इन्दु की प्रतियों में आप उन्हें देख सकते हैं।

रुचि, अभ्यास और प्रतिभा के अनुकूल तथा अननुकूल होने से विषय सरल और कठिन होते हैं।'

तब से अब तक विश्व में विकास और प्रगति की चाल तीव्र गति से निरन्तर होती गयी है। प्रसाद, पन्त, निराला ने हिन्दी खड़ी बोली के पद्य को सुन्दर, समुज्ज्वल स्वरूप में संवारा है। शिलान्यास के ये मूक भाषण धरती में पड़े रहेंगे और युगों तथा शताब्दियों के परिवर्तन के

कवि के अतिरिक्त लोचन प्रसाद पाण्डेय देशभक्त, समाजसेवक और पुरातत्व के गभीर विद्वान थे। अपने जीवनकाल में अनेक पत्र पत्रिकाओं म वे लिखते रहे। लगभग दो दर्जन पुस्तकें लिखकर उन्होने हिन्दी साहित्य के भण्डार की पूर्ति की है। अब चले जाने पर मध्यप्रदेश उन्हे 'अपना कह कर' विश्वविद्यालय में 'थीसिस' का विषय बनादेगा, इसमें सन्देह नहीं।

जी. पी. श्रीवास्तव

द्विवेदी काल में 'सरस्वती' से निराश होकर जिन लेखकों ने अपना मार्ग स्वयं बनाया, उनमें प्रसाद और जी० पी० श्रीवास्तव प्रमुख थे। जी० पी० श्रीवास्तव की भाषा संभवत द्विवेदी जी को न रुची होगी। इसीलिए उनको वे प्रोत्साहन न दे सके, लेकिन बाद में श्रीवास्तव जी हिन्दी में हास्यरस के लेखकों के सम्राट् माने जाने लगे। हिन्दी में सभी पत्र-पत्रिकाओं के संपादक उनकी रचनाओं को प्रकाशित करने के लिए लालायित रहते थे।

उस युग में ख्याति की दृष्टि से श्रीवास्तव जी प्रसाद और प्रेमचन्द से भी आगे थे। पाठक बड़ी उत्सुकता से उनकी रचनाएँ पढ़ते थे। भाषा सरल होने के कारण वे सर्वप्रिय हुए। प्रसाद और श्रीवास्तव दोनों ही 'इन्दु' द्वारा चमके। दोनों के आरम्भिक प्रयास 'इन्दु' में ही प्रकाशित हुए। दोनों के साहित्यिक लक्ष्य में अन्तर था।

आगे चलकर औरों की भांति श्रीवास्तव जी भी प्रसाद जी से कुछ

गोंडा
१-४-३०

भाई व्यास जी,

दूसरी पुस्तक 'एक घूट' अभी नहीं पढ़ी। शायद उसे पढ़ने का मुझे अभी अवकाश न मिले। अगर श्री प्रसाद जी से भेंट हो, तो जरा मेरी शिकायत कर दीजियेगा। बाबू जी ने मेरे पत्र तक का उत्तर न दिया। मैं जानता हूँ बनारस में चाँद के विरुद्ध कुछ लोगों ने विषैली हवा फैला रखी है, जिसके प्रभाव से कुछ लोग असहयोग कर रहे हैं, मगर बेकार। चाँद संचालकों से लगे झगड़ने। साहित्य से लड़ना क्या मानी, दूसरे इने गिने लोगों के असहयोग से क्या चाँद रुक जायगा? जहाँ मुर्गा न हो, तो क्या वहाँ सुबह नहीं होता। बुद्धिमानी इसमें थी कि अगर चाँद गलत रास्तेपर जा रहा है, तो गुणियों को और उत्साह से आगे बढ़कर उसे सुधारना चाहिये। खैर, ईश्वर चाहेगा, तो मैं 'कायस्थांक' देखने योग्य बनाकर ही छोड़ूँगा।

जी० पी० श्रीवास्तव

इसके पूर्व एक बार उन्होंने मुझे भी लिखा था।

गंगा आश्रम, गोंडा
८-१०-२९

प्रियवर,

आपने चाँद के मारवाड़ी अंक व कायस्थ अंक की सूचना देखी होगी। यह [illegible] लगाया गया है। [illegible] चुराई, मगर [illegible] ने आखिर [illegible] लिया। खैर, जब [illegible] दी गया, तब [illegible] बेकार [illegible] है। [illegible] दूर रहना आया। मेरा प्रेम

केवल साहित्य से है। उसके नाते प्रत्येक साहित्यसेवी चाहे कोई हो मेरे सगे भाई से बढकर है।

"मेरी हार्दिक इच्छा यही है कि जातीय अंक होते हुए भी यह साहित्य का अंग बने। किस तरह इस उद्देश की पूर्ति हो, इसी धुन में लगा हूँ। इस सम्बन्ध में आप से बढ़कर अपना पथप्रदर्शक दिखाई नहीं पड़ता। इस विषय पर मुझे उचित ढंग इस मनोकामना की पूर्ति का बताइये।

दूसरी अभिलाषा मेरी यह है कि मैं लेखकों और कवियों की प्रतिष्ठा का बखान करूँ। सैकड़ों विशेषांक निकलते हैं मगर सभी कमबख्त लेखों से अपना गौरव बढाते हैं, मगर बेचारे लेखकों का गौरव बढाने की कोई फिक्र नहीं करता।...क्योंकि साहित्यिक रत्नों की इस ढग की जीवनियाँ भी साहित्य का विशेष अग हैं और यह विषय आपको छोड़कर अन्य किसी के हाथ लगाने के लायक नहीं है। दूसरा कोई न उसका मर्म ही उचित रूप से समझ सकता है और न उसके लिए इतनी जानकारी ला सकता है। और मैं ऐसे ऐसे प्रभाव पूर्ण विषय उसी के योग्य सज्जन को सौंपना चाहता हूँ। इसलिए आप से अनुरोध है कि आप इस विषय पर अपना महत्वपूर्ण लेख अवश्य भेजें।

जी० पी० श्रीवास्तव ने अपने जीवन में ३४ पुस्तकें लिखी हैं, उनमें से अनेकों के बहुतेरे संस्करण प्रकाशित हो चुके हैं। कई युगों तक वे निरन्तर हिन्दी में लिख रहे हैं। उनकी पुस्तकों से प्रकाशकों ने लाखों रुपया पैदा किया। अपनी सभी पुस्तकों का कापीराइट उन्होंने बेच दिया था, इसका परिणाम यह हुआ कि वे अपनी एक कहानी तक किसी संग्रह में प्रकाशित करने की अनुमति नहीं दे सके। यह लेखक की कितनी दयनीय अवस्था को द्योतित करता है, इसका अनुभव उनके ही शब्दों में मैं

था। १९४८ में मैंने उन्हें एक पत्र लिखा था, उसमें उनके सम्बन्ध में संस्मरण लिखने की चर्चा थी। उसके उत्तर में उन्होंने लिखा था—'जवानी में मुलाकात हुई थी और आपका प्रेमपत्र मिला बुढ़ापे में। वही मसल हुई 'शर्बते वस्ल मिला मुझ को तो सिरका होकर।'

न दिमाग में सूझ और उपज है न दिल में जोश और वलवले हैं। दिन रात चक्की की पिसाई उसपर परेशानी का बोझ। किस तरह आपका सत्कार करूँ समझ में नहीं आता। दिल तो लड़कपन से ही सौन्दर्य और प्रेमपर पहले ही न्योछावर हो चुका था। जो कुछ बचा था वह नौजवानी में लुट गया। जवानी आयी तो लुट जाने की याद में पागल हो गया। संसार में कोई सहानुभूति करने वाला न पाकर अपने रोने और हंसने के लिए लेखनी का सहारा लिया। क्योंकि इस छटपटाहट में कभी फूट-फूटकर रोता था तो कभी पागलों की भाँति हंसता था। किसी को मेरी हँसी और रुलाई में मेरी व्यथा दिखाई न पड़ी बल्कि उल्टे वे लोग मेरी हँसी को साहित्य की फुलझड़ी और आँसुओं को उसके मोती समझकर मुझे साहित्यिक मानने लगे। इनके लिए अगर प्रेम है तो सौन्दर्य और प्रेम को और पाठकों की योग्यता को।

बुढ़ापा आया तो अपने साथ मन की ग्लानी और लेखनी को अलग करने मत्र और सन्तोष का पाठ मुझे पढ़ाने लगी। उनपर प्रकाशकों और समालोचकों ने अपने व्यवहारों से, लेखनी से और भी घृणा उत्पन्न कर दी।

यही है मेरी कहानी का सारांश। इसको विस्तार पूर्वक आप 'गंगा-जमुनी' और 'दिल जाने की आह' में जरा देख सकते हैं।

इन दिनों मैं सरकारी नौकरी रेवेन्यू अफसरी कर रहा हूँ। इसी में रातो दिन पिसा जाता हूँ। एक पोस्टकार्ड तक लिखने का समय नहीं

पाता। मगर यह कमबख्त भी अब मुझ से मुँह मोड रही है, क्योंकि ५८ बरस का होकर सरकारी नौकरी की हद पार कर चुका हूँ और १ अप्रैल से इससे पृथक होने की आज्ञा आ गयी है।

इस प्रकार बुढापे में अब कोई सहारा नहीं है। बस ईश्वर मालिक है। उसी का भरोसा है।'

श्रीवास्तव जी का यह पत्र पढकर विश्वविख्यात लेखक सर्वेण्टिस का स्मरण हो आया जिसका समस्त जीवन खुद रोमान्स से भरा पडा था और जिसने ६० वर्ष की अवस्था में 'डान क्विक्जेट' उपन्यास लिखना आरम्भ किया था जो साहित्य के इतिहास में प्रलय के साथ ही लीन होगा।

रामवृक्ष बेनीपुरी

प्रसाद जी के यहाँ एक ऐसे आदमी से साक्षात् हुआ जो बातें करने में बहुत कुशल थे। वह अपनी बातों से ही अपना परिचय दे रहे थे। व्यक्तित्व कोई प्रभावशाली न था। खद्दर का कुर्ता और एक लम्बी शिखा से प्रकट होता था कि कोई देहाती ब्राह्मण है।

अब मैं इनके पत्र से ही इनका परिचय आरम्भ करता हूँ।

'बालक'

लहेरिया सराय,
चैत अमावस्या, ८६

भाई विनोद,

अपनी मस्ती का दो-एक छींटा इधर भी। वाह साहब, मैंने तो पत्रोत्तर भी दिया—बालक भी भेजा और आप उलाहना ही दे रहे हैं। हाँ, यह बात जरूर है कि मैं बेतरह व्यस्त रहता हूँ। क्योंकि केवल सम्पादन तक मेरा सम्बन्ध नहीं है—जैसा कि आप स्वयं जानते हैं, भंडार का अधिकांश बोझ मेरे सिर पर लदा हुआ है। इसके अतिरिक्त इस ओर मेरे घर पर, यद्यपि अपने घर पर नहीं, किन्तु हित-कुटुम्बों में शादी ब्याह की धूम है। अत प्राय. वहाँ से अनुपस्थित रहना पड़ता है। यही कारण

है कि आप मित्रों का उलाहना, फटकार, दुत्कार सब कुछ अवनत मस्तक होकर सहना पडता है। किन्तु कोई चारा भी नहीं है।

तो आप 'अशान्त' के लिए अशान्त हैं—सब्र कीजिये, धैर्य रखिये। मेरा दोष नही, नाम का भी फेर होता है—यह अशान्त नाम की ही मनहूसियत है कि अबतक आप अशान्ति में पडे रहे। मस्ती में भी, सहज स्वाभाविक मस्ती में भी खलल पड गया। अब आगे से पुस्तकों के नाम खब सोच समझ कर अच्छा, साहित्यिक, श्रुति मधुर और शुभ सूचक रखें—फिर ऐसा झमेला काहे को होगा।

बाबू जयशकर जी को मेरा जयशकर कहने से न चूकें।

शिवपूजन को कह दिया है—कामना के बाद अशान्त में हाथ लगेगा। बाबू साहब ने फोटो का इन्तजाम किया ?

श्री बेनीपुरी

उन दिनों प्रसाद जी के यहाँ बिहार के तीन साहित्यसेवी शिवपूजन, बेनीपुरी और गगा प्रायः आते थे। शिव जी के कारण ही प्रसाद जी ने बिहार द्वारा प्रकाशित करने के लिए अपनी 'कामना' दी थी। यह प्रसाद जी की ही [illegible] था कि मेरी तीन कहानियों को जोड कर एक छोटा उपन्यास बना दिया था और उसका नाम अशान्त रखा गया। यह मेरी पहली पुस्तक थी जो बिहार से प्रकाशित हुई।

बेनीपुरी आरम्भ से ही अपनी [illegible] के पक्के थे और उन्होंने जीवन में बहुत [illegible] करना [illegible]। और इस तरह उन्होंने अपने लिए ही नहीं, बिहार के समस्त लेखकों का मार्ग प्रशस्त किया।

[illegible] के सुख और दुःख के [illegible] तक के सभी प्रसंग उनके साथ रहे। आरम्भ [illegible] उनकी [illegible]नीति के प्रति [illegible] और [illegible] कारण उन्हें [illegible] भी [illegible]।

बिहार ने जिन प्रतिभाओं को उत्पन्न किया उनमें 'वियोगी' का प्रथम स्थान था। बेनीपुरी को प्रसाद और वियोगी दोनों का सहयोग मिला था। बेनीपुरी की लगन से ही सुन्दर गेट-अप के साथ साहित्यिक पुस्तकें प्रकाशित करने का श्रेय भंडार को प्राप्त हुआ था। शिव जी जैसे परिश्रमी सम्पादक को अपनाकर बेनीपुरी ने सफलता से हाथ मिलाया था। गंगा साहित्य में रुचि रखते थे और मण्डली में बराबर बेनीपुरी के साथ आते थे, लेकिन जैसे बेनीपुरी बातूनी थे उसके विपरीत गंगा मौन और गम्भीर थे। वह बोलते शायद ही कभी और सुनते सब की। गंगा ने अपनी सरलता के कारण आरम्भ से ही मेरा सौहार्द प्राप्त कर लिया था। उन्होंने साहित्य का कोई रचनात्मक कार्य नहीं किया। आगे चल कर इन्हीं गंगाशरण ने सोशलिस्ट पार्टी के सभापति का आसन ग्रहण किया।

'युवक' निकालने में बेनीपुरी और गंगा ने ऐसा साहस दिखलाया था जिसकी कल्पना भी आज के युवकों के लिए कठिन है। पास में न पैसा, न साधन, फिर भी आगे बढ़ते गये। इस समय के उनके पत्र स्मृति रेखाओं को सजग करते हैं।

युवक, पटना
६–२–२९

आँखें बिछाकर हज़ूर लोगों (यानी बाबू साहब ऐंड को) की राह का इन्तजार कर रहा हूँ।

फिर—

७–२–२९

मेरे सुन्दर शैतान,

वन्दे, तल्लीन, गुरु रे।

पत्र मिला। पढ़ा। हँसा। चुप। बात ही सोची।

वाह री अदा !

मुझ से भूल—खैर श्री चरण कमलेषु नाक रगड़ कर क्षमा मांगता हूँ, मेरे सरकार, क्षमा हो, क्षमा हो, क्षमा हो !

किन्तु याद रखिये, आपने भी कुछ कम गलतियाँ नहीं की हैं।

'बोलो, क्या लिखूँ ?'

लिखो, जो कुछ 'युवक' के लिए लिखना चाहते हो।

हड़कम्प !—जरूर मचाओ !!

प्रतीक्षा में--

श्री बेनीपुरी

काशी के साहित्यिक अखाड़े के इस 'हड़कम्प' शब्द को बेनीपुरी ने बिहार में कितना चरितार्थ किया है, इसके लिए भविष्य के सभी कोशकारों को मनन करना होगा। पुस्तक प्रकाशन, राजनीति और साहित्य के क्षेत्रों में व्याप्त हुआ यह शब्द जटिल न होकर सुगम हो जायगा।

'युवक'
शक्ति, साहस और साधना का
मासिक
युवक आश्रम
बाँकीपुर
[illegible]

ओ 'हड़कम्प' मचाने वाले वीर !

वन्दे ! 'युवक' का हड़कम्प रूप प्रारम्भ हो रहा है। नागरी का अंक प्रेस ले जा रहा है। क्या किसी कहानी की आशा कर सकता हूँ ?

[illegible] हैं न। [illegible]—[illegible] है न !

[illegible] था। [illegible] है।

फिर दूसरा कार्ड—

पटना

१५–१–१९३०

दोनों खत मिले। दोनों पुस्तकें भी। यार, छपाई और गेट अप तो कमाल के हैं। ओहो, तुम गुरु निकले। गेट अप में बंगलावालों के कान तुम ने तराश लिये, शाबाश!

१७ को काशी आ रहा हूँ—मिलूँगा।

मंडली में ठंढई छना कर बेनीपुरी से मजाक करने में सब को आनन्द मिलता था। और इस हास्य व्यंग्य में रूठने का उनका अभ्यास भी नहीं था। इससे उनके सार्वजनिक रूप ग्रहण करने में सुविधा मिली थी। उस समय पान के साथ सुर्ती नहीं और सिगरेट तो लम्बी शिखा के दायरे में नहीं आता था। आगे चल कर समय ने सिगरेट के साथ सूट की उपासना की और पेरिस के चित्रण में कलाकार का रूप साकार हुआ।

प्रांतीयता और जातिभेद की बेसुरी में भी बिहार ने अपने नौनिहाल सपूतों की कद्र की और बेनीपुरी को 'साहस' के नाम पर हिन्दी साहित्य में सफलता की सनद मिली। 'शक्ति' के उपासक शिव जी हिन्दी भाषा की कीर्ति के पताका बने और 'साधना' की तपस्या में गंगाशरण सोशलिस्ट सभापति हुए।

१९५३ में पटना में इन तीनों सेनानियों से भेंट हुई। स्मृतियाँ सरस हो उठीं। भेंट में बेनीपुरी ग्रंथावलि का प्रथम भाग मिला। और रास्ते भर मैं यही सोचता आया कि बेनीपुरी भाग्यवान हैं और उनके अटूट साहस का परिणाम वह अपने साथ ले जायँगे और मर कर अमर होकर भी प्रसाद की ग्रंथावली—मेरी और स्वर्गीय रूपनारायण की आन्तरिक इच्छा होने पर भी न प्रकाशित हो पायी। यह भी निराला का अभिशाप ही है।

महादेव प्रसाद सेठ

उन दिनों 'मतवाला' के होलिकांक की प्रतीक्षा बड़ी उत्सुकता से होती थी। आज उसकी स्मृति मात्र शेष रह गयी है। अतएव इस लेख द्वारा हम मतवाला-मण्डल की स्मृति सजग कर रहे हैं।

महादेव बाबू का महत्त्व साहित्यिक दृष्टि से भले ही न हो, लेकिन हिंदी साहित्य के निर्माण में 'मतवाला' को थोड़ा बहुत स्थान देना ही पड़ेगा। इसके अतिरिक्त निराला, उग्र, शिवपूजन, ईश्वरी प्रसाद शर्मा, मुन्शी नवजादिक लाल और विनोद सब महादेव बाबू के सहयोग से हिंदी साहित्य के क्षेत्र में आगे बढ़े हैं। वह भी एक युग था जब मतवाला आफिस भूले भटके संकटग्रस्त हिंदी लेखक और कवियों का केन्द्र था। इसलिए खुद कुछ साहित्य का सृजन न कर सेठ जी ने कितनों को अनुप्रेरित और उत्साहित किया था। उनमें से कुछ चल गये और जो जीवित हैं वे इसे स्वीकार करने में फिर नहीं हिचकेंगे ऐसा मेरा विश्वास है।

सेठ जी का [illegible] उनका [illegible] से [illegible] था। उनके विचार [illegible] रहते थे। [illegible] में [illegible] उनके जीवन की [illegible]

छिन्न-भिन्न हो गयीं और स्वतन्त्रता के उत्सव में अपनी डुग्गी बिना भजाये ही वे चल बसे।

मतवाला-मण्डल की होली की बधाई के साथ मेरा और सेठ जी का सम्बन्ध आरम्भ होता है। उनका पहला कार्ड ८-३-२८ को लिखा गया था—

प्रिय व्यास जी,

होलिकांक आपको आशा है, अब तक मिल गया होगा। कैसा हुआ है? प्रत्यक्ष परिचय न होने के कारण इसके पहले आपको पत्र नहीं लिखा था। इस बार आपकी अयाचित कृपा ने यह कार्ड लिखने की प्रेरणा की है। क्या आप मतवाला में कभी कभी अवकाशानुसार कहानियाँ लिखने की कृपा करेंगे। आशा तो है कि आप अवश्य कृपा करेंगे। आगामी अंक तारीख १७ को निकलेगा। यदि सम्भव हो तो भेजिये।

म० प्र० सेठ

मैंने उत्तर दिया। फिर १४-३-२८ के कार्ड में उन्होंने लिखा—

आपका कार्ड पाया। आपने मेरी प्रार्थना स्वीकार कर ली यह जान कर प्रसन्नता हुई। २० तारीख की प्रतीक्षा उत्सुकता से कर रहा हूँ।

२०-१०-१९२८

मतवाला मण्डल की ओर से, मण्डलेश का विजया के उपलक्ष में प्रेमालिंगन स्वीकार कीजिये। आपकी कहानी की बड़ी प्रतीक्षा थी। खैर आगामी अंक के लिए ही सही।

गऊघाट, मिर्जापुर

२७-१०-१९२८

मैं कलकत्ता से वापस आ गया। दशमी पर तो प्रतीक्षा ही करता रह गया। खैर अब मतवाला के लिए एक कहानी भेजिये। कहानी मुझे

मिर्जापुर
१-११-२८

आपका पत्र पाया। अरे भाई काशी में उड़ा ले जाने वालों की कमी नहीं है। तो, क्या अब मतवाला दूर रहने के कारण वंचित रहेगा। यह न्याय नहीं। आप हमें ५, ७ कहानियाँ इकट्ठी ही दे दीजिये। और हाँ, प्रसाद जी से भी कुछ दिलवाइये। उनकी रचना से मतवाला के उच्चकोटि के पाठकों को बड़ा आनन्द आता है।

मिर्जापुर
१६-१२-२८

श्री उग्र जी और मैं कलकत्ता आ गया हूँ। आपका पत्र मिर्जापुर से रीडाइरेक्ट होकर यहाँ मिला। आपकी पुस्तक दो ही एक दिन में कम्पोज होना शुरू होगी। उग्र जी की देख-रेख में यहीं अपने प्रेस में छपेगी। उसी छोटे टाइप में, जैसा हम लोगों ने लक्ष्मी नारायण प्रेस में देखा और पसन्द किया था, छपेगी। एकदम नया टाइप खरीद लिया है।

खैर, आप क्या कांग्रेस में न आइयेगा, बड़ी चहल-पहल है, बड़ा मजा रहेगा। राष्ट्र भाषा सम्मेलन की भी बड़ी धूम है। गांधी जी सभापति होंगे। मेरी राय तो है कि अवश्य आइये।

म० प्र० सेठ

इस पत्र के लिखने के पहले महादेव बाबू बनारस आये थे। उनसे सब बातें हुईं। मेरे साथ वे प्रसाद जी के यहाँ भी गये थे। उनके आग्रह पर प्रसाद जी ने अपनी एक रचना देने का वचन दिया था।

कलकत्ता

कल ही एक कार्ड '[illegible]' के तकाजा के लिए लिखा है। उसके लिए चुनने और ठीक कर देने के बाद आपका कार्ड मिला था।

आज रजिस्टर्ड पैकेट से लेख और आपका चित्र मिला। चित्र पर तो जान से निछावर हो गया। धन्यवाद, धन्यवाद। चित्र का आवरण और साइज तो इतना सटीक और सुन्दर है कि २४ घण्टे छाती से लगाये रखा जा सकेगा।

हूँ तो मैं भी होलिकाङ्क ठाट-बाट का निकालने की धुन में, परन्तु अकेला क्या कर सकूँगा कुछ कह नहीं सकता। उग्र को बहुत बुलाया, विरह निवेदन किया, कलपा, पर न आये न आने का वचन देकर ही ढाढस दिया। लिखते क्या हैं कि 'चुम्बन' समाप्त करके आऊँगा, क्या करूँ मैं यहाँ 'चुम्बन' की प्रतीक्षा ही करूँगा। विचार है होलिकाङ्क में आठ-दस कार्टून देने का। कुछ 'रफ' आइडिया भेजिये, बड़ी सुविधा हो जायगी। लेखादि आप तो भेजियेगा ही मित्र मण्डली से भी भिजवाइयेगा और शुभस्य शीघ्रम्, ताकि सजाने का समय यथेष्ट मिले। निराला जी यहीं हैं, शायद १५-२० दिन और रहेंगे। मनमौजी आदमी ठहरे कब चले जायँ ठीक नहीं। स्कन्दगुप्त की एक विस्तृत आलोचना लिखने को कह रहा हूँ, देखिये कब लिखते हैं। नन्ददुलारे वाजपेयी का लेख तो आपने देखा ही होगा। निराला जी के भूल से ही उनका नाम छूट गया। इस बार भूल सुधार दूँगा।

होलिकाङ्क के लिए प्रसाद जी से भी अभी से तकाजा करते रहिये। मधुकरी के तीन-चार फर्मे शीघ्र ही भेजूँगा।'

महादेव बाबू के इस पत्र पर तारीख नहीं लिखी है, लेकिन होलिकाङ्क से महीने दो महीने पहले का लिखा मालूम पड़ता है। एक पत्र उनका २६-१-२९ का कलकत्ता से लिखा हुआ है जिससे उनकी स्थिति का पता चलता है।

आप आवश्यकतानुसार 'इन्सट्रक्शन' बराबर भेजते जाइये मेरा उत्तर न जाय तो भी। मुन्शी जी से सम्बन्ध विच्छेद हो गया यह तो आपने मतवाला में छपी उनकी स्थान परिवर्तन वाली सूचना से ही समझ लिया होगा। एकदम अकेला हूँ, पीर बवर्ची भिश्ती खर या 'जूता सेलाई थेके चण्डी पाठ पर्यन्त' वाला मसला दरपेश है। अब इस अवसर पर आपकी कहानियों की कितनी आवश्यकता है, स्वयं कल्पना कर लीजिये।

सदैव वही म० प्र० सेठ

१२-[illegible]-२९

'लटपन मन्त्र' इस बार जा रहा है। स्कन्दगुप्त मतवाला आफिस [illegible] नहीं आया प्रसाद जी से कहियेगा। शिवपूजन जी ने भी इस बार 'मतवाला' के लिए कुछ नहीं भेजा। जरा कष्ट करके उनसे भी मिलियेगा और कहियेगा।

...प्रसाद जी से मतवाला के लिए कुछ भेजवाइये। आपकी कलकत्ता आने की इच्छा थी, आते क्यों नहीं। इस समय आ जाइये तो मुझे बड़ी सहायता मिले।

१८-३-२०

'चट पुट्टू' [illegible] मिल गया। अभी उग्र जी का और शिवपूजन का मैटर नहीं मिला है। हरिऔध जी ने भी इस बार अभी कुछ नहीं भेजा है। [illegible] का भी अभी नहीं मिला है। परन्तु पत्र आ गया है, [illegible] मिलेगा।

कलकत्ता

[illegible]

[illegible]

श्री उग्र जी को जो पत्र आपने लिखा था उसमें निस्सन्देह एक वाक्य ऐसा था जिससे मुझे बड़ा कष्ट मिला था, क्योंकि मेरा दृढ़ विश्वास है कि मैंने अपने होश में आज तक किसी के साथ धूर्तता का व्यवहार नहीं किया है ·· खैर, आप से मुझे उसके लिए कोई उलाहना नहीं, क्योंकि मैं जानता था कि उग्र जी के कारण ही आप को वैसा लिखना पड़ा था। और श्री उग्र की उस तरह की बातों का बुरा मानना बिल्कुल व्यर्थ है, क्योंकि उनकी 'सिनिकल' प्रकृति तो उनके सभी चाहने वालों को विदित है और मेरे विचार में यह उनकी एक बड़ी भारी विशेषता है। उनकी इस प्रकृति को समझने वाला ही उनकी सहृदयता का रस लूट सकता है।

श्री उग्र जी कैसे हैं भेंट तो कभी-कभी होती ही होगी। यदि मुलाकात हो तो मेरी याद दिला दीजियेगा।···

जयशंकर बाबू का स्वास्थ्य कैसा है।'

मिर्जापुर
८-२-३१

इस बार जेल से आने के बाद मेरा स्वास्थ्य कुछ अधिक खराब हो गया है। इसीलिए अभी नियमित रूप से कामकाज आरम्भ नहीं किया है। मतवाला के संबन्ध में आपके विचार चि० शंकरनाथ से मालूम हुए थे। आप किसी दिन भी यहाँ आ सकते हैं, जरूर आइये, मेरी बड़ी इच्छा है कि आपसे भेंट तो हो परन्तु कुछ स्वास्थ्य और कुछ प्रान्तीय कानफरेन्स के प्रबन्ध के झमेलों से लाचार हूं।

मिर्जापुर
२७-५-३१

आशा है आप सानन्द काशी पहुँच गये होंगे।

जैसा आप से निवेदन कर चुका हूँ, बाजार भाव आदि तो मुझे

ज्ञात नहीं, हाँ, खूब सोच समझ कर इतना मैंने स्थिर किया है कि मतवाला और उसका 'गुडविल' तथा प्रेस सारे सामानों समेत मैं दस हजार रुपयों में दे सकूँगा। मेरा भविष्य जीवन राजनीतिक होने जा रहा है, ग्राम सघटन का काम करन का इरादा है। ये रुपये मेरी उस इच्छा में सहायक होंगे।

यदि आप उचित समझे तो अपने मित्रों से परामर्श करें। मेरा विचार तो यह है कि एक नया प्रेस करके नया पत्र निकालने में इससे कुछ अधिक ही लगेंगे।

महादेव बाबू के इस पत्र के बाद ही 'मतवाला' निकालने की अभिलाषा का अन्त हुआ। प्रसाद जी और शिवपूजन जी भी हताश हुए। बात यह थी कि हम लोगों के पास इतने पैसे नहीं थे अन्यथा कुछ अधिक होने पर भी हम लोग महादेव बाबू से मोल भाव नहीं करते। जो कुछ भी हो। आगे चल कर मतवाला की योजना बदल कर 'जागरण' का जन्म हुआ। यहाँ एक बात स्पष्ट कर देना आवश्यक है, वह उग्र के सम्बन्ध में महादेव बाबू का रिमार्क। उस सम्बन्ध में उग्र की प्रकृति से जो परिचित हैं वे सभी जानते हैं और वह इतने स्पष्ट हैं कि उनकी कोई बात छिपी नहीं रहती, अतएव इसका उल्टा अर्थ करने वाले कोई इससे लाभ न उठा सकेंगे।

नवजादिक लाल श्रीवास्तव

मुन्शी जी को हिन्दी साहित्य के इतिहास में भले स्थान न दिया जाय, लेकिन हिन्दी पत्रिकारिता में उनका महत्वपूर्ण स्थान है। मतवालामण्डल के बड़े बाबू भी वही थे और मतवाला की कल्पना में उनका बहुत बड़ा हाथ था। १९२८ में जब मैं कलकत्ता गया था, उस समय सेठ जी से उनकी तनातनी चल रही थी। उन का प्रभाव उन्हें खटक रहा था और मतवाला से उनके अलग होने का प्रमुख कारण यही बना।

कलकत्ते में मुंशी जी का आरम्भिक समय डाकखाने के एक कर्मचारी के रूप में व्यतीत हुआ। अपनी लगन के कारण जीविका के माध्यम से वे पत्रकारिता के पेशे में आये। मतवाला के साथ ही वह परिचित और सम्मानित हुए। उस युग के मतवाला से सम्पर्क रखने वाले सभी लेखक उनसे आँख बचाकर प्रवेश पाने में असमर्थ होते थे।

मतवाला से अलग होकर उन्होंने 'सरोज' मासिक पत्र कलकत्ते से निकालना आरम्भ किया था।

'सरोज' कार्यालय

कलकत्ता—१५-८-२८

प्रियवर व्यास जी,

··'सरोज' की त्रुटियों पर ध्यान दीजियेगा और मुझे सावधान करते

रहियेगा। मुझे बाध्य होकर यह दु साहस करना पड़ा है। क्योंकि मेरी साहित्यिक योग्यता तो मतवाला के बहस तक ही है। परन्तु देखें भगवान जो न करा दे।

भाई शिवपूजन कैसे हैं। उनका समाचार दीजियेगा। बिलासपुर की वह मण्डली याद आती है। आप लोगों के कारण बड़े आनन्द से समय कटा।

आपका,
नवजादिक लाल

शिव जी की ससुराल बिलास पुर में थी। हम लोगों की मण्डली में सब से बूढ़े मुंशी जी ही थे। अतएव समधी वही बने थे।

अपने ८-९-२८ के पत्र में वे लिखते हैं—

अस्वस्थता के कारण आप के गद्यकाव्य और प्रसाद जी की कहानी की पहुँच नहीं लिख सका। क्षमा कीजियेगा। आप की कहानी तीसरे अंक में पीछे पड़ जाती थी, इसीलिए चौथे में दूँगा। ब्लाक बन गये हैं। प्रूफ शीघ्र भेजूँगा। दशहरा से पहले ही चौथा और पाँचवाँ अंक निकाल कर एक मास के लिए पुरी जाऊँगा। स्वास्थ्य के साथ तो कुछ पुण्यसंचय करने का विचार है। बुढ़ापा आ गया है, इसीलिए कुछ आगे की तो सोचना ही चाहिये।

वृद्धावस्था में मानसिक चिन्ताओं के कारण मुंशी जी के स्वास्थ्य पर बुरा असर पड़ा था। एक तरह से उनका [illegible] उचट गया था। इतने दिनों तक जिस मतवाला के वे [illegible] थे उससे एकदम अलग हो जाने पर [illegible] बहुत ही सोचा [illegible] है, [illegible] था, [illegible] के सामने [illegible] था, मुंशी जी का [illegible]

उग्र की विजय ने मुंशी जी को सरोज में अधिक तत्परता से लगाया। हिन्दी में सरोज की लोकप्रियता बढी।

एक वर्ष समाप्त हुआ।

१९–६–२९

'एक दिन हठात् मतवाला आफिस में जाने पर मालूम हुआ कि आप काशी चले गये। बड़ा दुःख हुआ। भरपेट बातें भी न कर सका और न जाने के समय दर्शन ही हुए। दुर्भाग्य!

सरोज के आगामी वर्ष के प्रवेशांक को एक छोटे से विशेषांक के रूप में निकालने का विचार है। कई रंगीन और सादे चित्रों का संग्रह किया है। लेखकों और कवियों से भी प्रार्थना की है। भाई शिवपूजन ने सम्भवतः आप से भी जिक्र किया होगा। मेरी हालत तो आप जानते ही हैं कि इस बुढौती में मासिक पत्र का सम्पादन करने चला हूं।·· श्रद्धेय प्रसाद जी को भी पत्र लिखा है, परन्तु जरा आप भी कहियेगा। इस सम्बन्ध में मुझे आप से बड़ी आशा है, इसीसे यह कह दिया है। बिना आपकी सहायता से कुछ कैसे प्राप्त कर सकूँगा!'

मुंशी जी विशेषांक के लिए प्रसाद जी की रचना के लिए व्याकुल थे। उन्होंने फिर लिखा।

२७–७–२९

'प्रसाद जी की सेवा में प्रार्थना पत्र भेजा है। फिर लिखूंगा। नहीं लिखेंगे तो आकर धरना दूँगा। बनारस गये बरसों बीत गये। विशेषांक निकल जाता तो एक बार अवश्य आता। जरा आप लोगों के साथ दो-एक रात बूटी छनती। कलकत्ता का कैसा गन्दा जीवन है यह तो आप देख ही चुके हैं। बरसों के बाद एक बार तबीयत बहलाने की बड़ी जरूरत है।'

२६-८-२९

'बहुत दिनों से आप का कोई पत्र नहीं आया ·· 'सरोज' का विनोद शून्य विशेषांक पहुँचा होगा। भाई शिवपूजन के तवालत में पड़ जाने से सारा मजा किरकिरा हो गया। श्री 'प्रेमचन्द्र' जी और पण्डित बदरीनाथ भट्ट ने वादा करके भी कुछ नहीं भेजा। दुर्भाग्यवश आप की भी तबीयत खराब हो गयी। बस फिर क्या गरीबी में आटा गीला हो गया। तबीयत झुंझला उठी। सारे उत्साह पर ही पानी फिर गया। खैर, अल्लाह की मरजी।

अगला अंक नाटकांक के नाम से निकालने की इच्छा है। नाटक सम्बन्धी कई लेख भी मिल गये हैं।···आपको थोड़ा कष्ट देना चाहता हूँ। वह यह कि बाबू जयशंकर प्रसाद के नाटकों के सम्बन्ध में एक परिचयात्मक लेख, स्वयं लिखकर या किसी से लिखाकर भेजिये। इस सम्बन्ध में आप के सिवा और किसी से काफी सहायता मिलने की आशा भी नहीं। इसके सिवा विशेषांक का पावना भी आप के जिम्मे है। यों तो बुढ़ौती के प्रेम के दबाव का कोई भरोसा नहीं, परन्तु पावना चुकाना तो आप का धर्म ही है। कबतक कर्जदार बने रहियेगा?

उत्तर के लिए मुँह बाकर प्रतीक्षा कर रहा हूँ।'

कुछ महीनों के बाद सुना मुंशी जी मस्त मतवाला निकालते रहे। इस सम्बन्ध में मैंने पत्र लिखकर पूछा। उत्तर में उन्होंने लिखा—

'मस्त मतवाला' के सम्बन्ध में आप का यह प्रश्न कि 'कब भेजियेगा' कितना अत्याचारपूर्ण है। जरा इसे सोचियेगा। मस्त और उसका यह बूढ़ा नाना दोनों ही आप के हैं। बात यह है कि अभी तक उसने कलकत्ता बड़ा बाजार के बाहर कदम ही नहीं रखा है। अब तक जो चार अंक निकले हैं उनकी कोई भी प्रति बची नहीं है।

आगामी २० जनवरी से सुन्दर रूप में निकलेगा और सेवा में नियम [illegible] पहुँचेगा।'

मतवाला का 'रिएक्शन' मुंशी जी को वेतरह चंचल किये हुए था। उदाहरण प्रत्यक्ष था। संसार में प्राय बहुत बड़े कार्य द्वन्द्व और स्पर्धा के कारण हुए हैं। साहित्य का सृजन भी इससे परे नहीं है। लेकिन बेचारे मुंशी जी वृद्धावस्था और आर्थिक कष्ट के कारण अपनी परिस्थितियों से भी द्वंद्व करते रहे।

कलकत्ता छोड़कर वे प्रयाग चले आये। चाँद आफिस में उनसे भेंट हुई थी। बड़े दुखी थे। सचमुच उनकी स्थिति पर दया आती थी। लेकिन हिंदी लेखकों के भाग्य पर विधाता सदैव उदासीन रहे, कोई वश नहीं था। संध्या समय उन्होंने अपने घर पर आमन्त्रित किया था। लेकिन व्यर्थ में उन्हें कष्ट देना मैंने उचित नहीं समझा। मैं गया नहीं। उलाहना में उन्होंने लिखा था।

'उस दिन ६ बजे तक आप की राह देखता रहा। बूटी भी घोंट रखी थी। अफसोस! (१३-५-३३ चाँद प्रेस लिमिटेड)

मुंशी जी के कारण ही जहाँ वे जाते वहाँ मुझे लिखना पड़ता था। मेरे ऊपर उनका कितना अधिकार था यह इस कार्ड से ज्ञात होता है।

चन्द्रलोक, प्रयाग
२४-९-१९३३

'सौ बात की एक बात तो यह है कि अगर कहानी नहीं आयी तो 'हंगर स्ट्राइक' करके प्राणविसर्जन कर दूँगा। अब आप जानें और अभागिन बीबी का भाग्य जाने।'

और इस तरह यह उनका अन्तिम कार्ड ही मेरी फाइल में रह जाता है। वह जीवन और पत्रकारिता से थक कर सदैव के लिए विश्राम लेकर विदा हुए और अभागिन बीबी का भाग्य हिन्दी संसार के सम्मुख आँसू बिछाये हुए बैठा था और तब उस महाकवि पागल निराला ने अपनी २१ सौ की सरकार से मिली रकम को उसके हाथों सौंपा।

शान्तिप्रिय द्विवेदी

शान्तिप्रिय द्विवेदी का वास्तविक नाम मुच्छन द्विवेदी था, लेकिन प० रामनारायण मिश्र ने यह देहाती नाम बदल कर शान्तिप्रिय का नामकरण किया था।

शान्तिप्रिय की सब से बड़ी विशेषता यह है कि वे कहते हैं अपनी ही और सुनते हैं किसी की नहीं। उनका हिन्दी प्रवेश लगभग १९२५ ई० में हुआ था। वह श्रमिक श्रेणी के व्यक्ति हैं। जीवन विकास की रेखायें उनकी बड़ी चमत्कार पूर्ण हैं। अपने सम्बन्ध में उनका कहना है कि जीवन भर में किसी ने उन्हें 'लिफ्ट' नहीं दिया और सब जगह उनका शोषण ही होता रहा।

मेरा उनसे परिचय उनके बचपन में ही हुआ था। उस समय कवि के रूप उन्हें [illegible] हो रहे थे। उनकी देहाती दयनीय स्थिति देखकर सभी साहित्यिकों की सहानुभूति उनके प्रति हो जाती थी। सभी अवसरों [illegible] पर वह आगे बढ़ते गये। उनके लिए कहीं रोक नहीं थी, [illegible] [illegible] उनके दर्शन [illegible] [illegible] जाते थे। [illegible] उनकी [illegible] [illegible] होता था [illegible] नाटक में [illegible] अदा करते हुए वह [illegible] रहते थे। साहित्यिक निबन्ध होते

हुए भी वह बड़े पते की बात और प्रश्न छेड़ देते थे। अतएव मजाक और मनोरंजन में भी साहित्य जगत के 'रूटर' की भाँति वह विश्वसनीय भी माने जाते थे, क्यों कि उनके अधिकांश समाचार निर्मूल नहीं होते थे। इस तरह कुछ अंशों में वह केदारनाथ पाठक के लघु संस्करण थे।

छायावाद की ओर उनका झुकाव था और उन दिनों बेतुके छन्द में कुछ बेतुके भावों को प्रकट कर देना भी सरल था अतएव एकलव्य की भाँति उन्होंने निराला की वन्दना की। शिक्षा का अभाव था। नियमित रूप से कहीं अध्ययन की सुविधा नहीं मिली थी। जो विद्वानों के जमघट में सुन समझ लेते उसी के माध्यम से अपनी योग्यता प्रदर्शित करते थे।

निराला से साक्षात् होने पर और उनके मुँह से विभिन्न भाव भंगी के साथ कविता सुन कर तो शान्तिप्रिय ऐसे प्रभावित हुये कि साष्टाङ्ग कर ऐसा घुल मिल गये कि निराला को पिंड छुड़ाना कठिन हो गया। निराला ने सोचा चलो वन्दक से हानि ही क्या! उन्होंने उन्हें अपनी दिनचर्या का केन्द्र बना लिया। चलते फिरते लाउड स्पीकर की भाँति शान्तिप्रिय निराला की जुही की कली खिलाने लगे। निराला के साथ बहुत दिनों तक पतंग में पुछल्ला की तरह लहराते हुए वह छायावादी हिन्दी साहित्य के धुंधले आकाश में उड़ते रहे। प्रसाद का प्राय प्रति दिन का संसर्ग उन्हें सौभाग्य से मिल ही चुका था, पन्त के समीप पहुँचने का प्रयास उनका सफल हुआ। उन्हीं दिनों 'परिचय' मण्डल का स्वप्न निर्धारित होने लगा।

प्रसाद अपने स्थान को सुरक्षित बना कर पन्त और निराला के द्वन्द्व का निर्णय देख रहे थे। दो खिलाड़ी हिन्दी काव्य क्षेत्र में अपनी-अपनी प्रतिभा की दौड़ में एक दूसरे को परास्त करना चाहते थे। प्रसाद ने

निराला को बढ़ावा दिया। पन्त के प्रभाव ने शान्तिप्रिय को असमंजस में डाल दिया। वह खुद यह नहीं समझ पाते थे कि इन दोनों में कौन आगे बढ़ेगा। इसलिए वह दोनों के बीच में मध्यस्थ बन कर कार्य करने लगे। परिणाम यह हुआ कि शान्तिप्रिय के चमत्कार पूर्ण फुस फुस के कारण मामला बढ़ कर पत्रों में प्रकाशित होने लगा। लेकिन यह सब खेल शान्तिप्रिय के अबोध प्रयास के ही परिणाम स्वरूप हुआ था। इसे मैं और प्रसाद खूब समझ रहे थे।

पन्त, निराला की भाँति शारीरिक शक्तियों की समता न कर सकते थे। वह घबड़ा उठे। यह साहित्यिक तू तू मैं मैं शोभा नहीं देता था। पन्त ने शिष्टता का प्रस्ताव रखा। इस सम्बन्ध में बहुत लिखा पढ़ी की। वह काशी केन्द्र में प्रसाद के प्रभाव से भी अपरिचित नहीं थे। मैथिलीशरण के प्रोत्साहन ने पन्त का पक्ष लिया और प्रसाद ने निराला का।

पन्त की सरलता और उनके निश्छल हृदय की स्थिरता ने आगे चल कर अपने आप वातावरण शान्त कर दिया था। मुझे स्मरण है नाव पर उनकी कविता पाठ का वह दिन जब प्रसाद जी के साथ शान्ति-प्रिय और हम सभी सुन रहे थे। पन्त जी के लिखने के साथ पढ़ने की मौलिकता ने भी उनके प्रभाव में सहयोग दिया है। शान्तिप्रिय ने आगे चल कर एकमात्र उन्हीं को हिन्दी का सर्वश्रेष्ठ कवि घोषित किया। उनके मस्तिष्क से सब का अस्तित्व धुल कर केवल पन्त ही शेष रह गये।

शान्तिप्रिय के शक्तिशाली होने का विकास होने लगा। दिन हुआ जब प्रसाद जी की दुकान पर सब लोग बैठे थे। बातचीत के सिलसिले में प्रसादजी [illegible] हुए बेढंगी बात शान्तिप्रिय से कह बैठे। शान्तिप्रिय इतने रोष में तिलमिला उठे कि उनकी आकृति देख कर मैं भी भयभीत

हो उठे। वर्मा जी को भी क्रोध आ गया। बात बढ़ती गई। अन्त में बेलुत्फी और मार-पीट की नौबत देख कर प्रसाद जी ने मुझ से कहा—इन सबों को लेकर तुम जाओ और वह भी दूकान छोड़ कर उठ गये।

मैं शान्तिप्रिय को लेकर ढकेलते हुए आगे बढ़ा, प्रवासीलाल मुड़ कर अपने घर की राह पर न जाकर मेरे साथ हो लिये। बात बढ़ी और उन्होंने आक्रमण किया और शान्तिप्रिय ने भी वैसा ही उत्तर दिया। मैं बीच में खड़ा होकर भी न बचा पाया। मुझे भी क्रोध आ गया। वर्मा जी से बिगड़ते हुए मैंने कहा कि तुम्हारा उसका क्या मुकाबला है, एक कमजोर को बलवान दबोच सकता है। उन्होंने कहा—'यह कमजोर नहीं है।' और शान्तिप्रिय को अपने साथ घसीटता हुआ मैं वर्मा से अलग हो गया।

शान्तिप्रिय के बलवान होने का उदाहरण उसी दिन मुझे प्रत्यक्ष दिखाई पड़ा। शक्तिहीन व्यक्ति के प्रचण्ड रोष में महाबली भी परास्त हो सकता है इसमें सन्देह करना व्यर्थ है। शान्तिप्रिय रमता योगी की तरह कभी राय साहब, कभी मेरे यहाँ और कभी प्रसाद जी के यहाँ पहुँच जाते थे, इसके अतिरिक्त सभी हिन्दी साहित्य से सम्बन्धित द्वार उनके लिए खुले हुए थे। जीविका का कोई साधन न था। राय कृष्णदास जी ने उन्हें भारती-भण्डार का कार्यकर्त्ता नियुक्त किया। उनकी जीविका की व्यवस्थित नियमावली बनी। अब उनके मुक्त विचरने में नियन्त्रण लगा।

शान्तिप्रिय की सब से बड़ी विशेषता यह थी कि उनका 'सजेशन' कभी कभी उपयुक्त बन जाता था, क्यों कि रमता रूप में उनका अनुभव विकसित हो रहा था। प्रकाशित होने के पूर्व राय साहब, प्रसाद जी और मेरा लिखा 'मेनुस्क्रिप्ट' उनकी नजरों से गुजरता था। इसी बल पर संशोधक के गर्व में वह अपना नाम भी रखने का दावा करते दिखाई पड़े हैं। 'मेरे रक्त का सब जगह शोषण हुआ है।' उनके सभी सहायक उनके रक्त

निराला को बढ़ावा दिया। पन्त के प्रभाव ने शान्तिप्रिय को असमंजस में डाल दिया। वह खुद यह नहीं समझ पाते थे कि इन दोनों में कौन आगे बढ़ेगा। इसलिए वह दोनों के बीच में मध्यस्थ बन कर कार्य करने लगे। परिणाम यह हुआ कि शान्तिप्रिय के चमत्कार पूर्ण फुस फुस के कारण मामला बढ़ कर पत्रों में प्रकाशित होने लगा। लेकिन यह सब खेल शान्तिप्रिय के अमोघ प्रयास के ही परिणाम स्वरूप हुआ था। इसे मैं और प्रसाद खूब समझ रहे थे।

पन्त, निराला की भाँति शारीरिक शक्तियों की समता न कर सकते थे। वह घबरा उठे। यह साहित्यिक तू तू मैं मैं शोभा नहीं देता था। पन्त ने शिष्टता का प्रस्ताव रखा। इस सम्बन्ध में बहुत लिखा पढ़ी की। वह काशी केन्द्र मे प्रसाद के प्रभाव से भी अपरिचित नहीं थे। मैथिलीशरण के प्रोत्साहन ने पन्त का पक्ष लिया और प्रसाद ने निराला का।

पन्त की सरलता और उनके निश्छल हृदय की स्थिरता ने आगे चल कर अपने आप वातावरण शान्त कर दिया था। मुझे स्मरण है नाव पर उनकी कविता पाठ का वह दिन जब प्रसाद जी के साथ शान्तिप्रिय और हम सभी सुन रहे थे। पन्त जी के लिखने के साथ पढ़ने की मालिकता ने भी उनके प्रभाव में सहयोग दिया है। शान्तिप्रिय ने आगे चल कर एकमात्र उन्हीं को हिन्दी का सर्वश्रेष्ठ कवि घोषित किया। उनके मस्तिष्क से सब का अस्तित्व उठ कर केवल पन्त ही शेष रह गये।

शान्तिप्रिय के शक्तिशाली होने का विश्वास मुझे उस दिन हुआ जब प्रसाद जी की दुकान पर सब लोग बैठे थे। बातचीत के सिलसिले में प्रसादी लाल हुए ऐसी बात शान्तिप्रिय ने कह बैठे। शान्तिप्रिय इतने रोष में तिलमिला उठे कि उनकी आकृति देख कर सभी भयभीत

हो उठे। वर्मा जी को भी क्रोध आ गया। बात बढ़ती गई। अन्त में बेतुल्फी और मार पीट की नौबत देख कर प्रसाद जी ने मुझ से कहा—इन सबों को लेकर तुम जाओ और वह भी दूकान छोड़ कर उठ गये।

मैं शान्तिप्रिय को लेकर ढकेलते हुए आगे बढ़ा, प्रवासीलाल मुड़ कर अपने घर की राह पर न जाकर मेरे साथ हो लिये। बात बढ़ी और उन्होंने आक्रमण किया और शान्तिप्रिय ने भी वैसा ही उत्तर दिया। मैं बीच में खड़ा होकर भी न बचा पाया। मुझे भी क्रोध आ गया। वर्मा जी से बिगड़ते हुए मैंने कहा कि तुम्हारा उसका क्या मुकाबला है, एक कमजोर को बलवान दबोच सकता है। उन्होंने कहा—'यह कमजोर नहीं है।' और शान्तिप्रिय को अपने साथ घसीटता हुआ मैं वर्मा से अलग हो गया।

शान्तिप्रिय के बलवान होने का उदाहरण उसी दिन मुझे प्रत्यक्ष दिखाई पड़ा। शक्तिहीन व्यक्ति के प्रचण्ड रोष से महाबली भी परास्त हो सकता है इसमें सन्देह करना व्यर्थ है। शान्तिप्रिय रमता योगी की तरह कभी राय साहब, कभी मेरे यहाँ और कभी प्रसाद जी के यहाँ पहुँच जाते थे, इसके अतिरिक्त सभी हिन्दी साहित्य से सम्बन्धित द्वार उनके लिए खुले हुए थे। जीविका का कोई साधन न था। राय कृष्णदास जी ने उन्हें भारती-भण्डार का कार्यकर्त्ता नियुक्त किया। उनकी जीविका की व्यवस्थित नियमावली बनी। अब उनके मुक्त विचरने में नियन्त्रण लगा।

शान्तिप्रिय की सब से बड़ी विशेषता यह थी कि उनका 'सजेशन' कभी कभी उपयुक्त बन जाता था, क्यों कि रमता रूप में उनका अनुभव विकसित हो रहा था। प्रकाशित होने के पूर्व राय साहब, प्रसाद जी और मेरा लिखा 'मेनुस्क्रिप्ट' उनकी नजरों से गुजरना था। इसी बल पर सशोधक के गर्व से वह अपना नाम भी रखने का दावा करते दिखाई पड़े हैं। 'मेरे रक्त का सब जगह शोषण हुआ है।' उनके सभी सहायक उनके रक्

स्वभाव से चिर परिचित होने के कारण इस पर कभी ध्यान न देकर केवल उनकी विशेषता समझते रहे।

हाहाकार का आर्तनाद मन में बटोरे जब वह उबल पड़ते तब अरुचिकर होते हुए भी उनकी दयनीय अवस्था की ओर लोगों का ध्यान जाता और चुपचाप उनकी बातों को सुनना पड़ता। सन्देश, समाचार, टिप्पणी और व्याख्या के माहिर होने के कारण उन्हें आवश्यकता न होने पर भी सम्मुख आ पटकते थे। इस तरह अपनी अलग मौलिकता लिए हुए यह चलता फिरता बोलता मानव हिन्दी साहित्य संसार में स्वच्छन्द विचरता है।

एक निरीह आश्रयहीन व्यक्ति जिस तरह हिन्दी में अपना एक स्थान बना लेता है यह वास्तव में विचारणीय है।

विश्वम्भरनाथ जिज्जा

जिज्जा जी से मेरा परिचय प्रसाद जी के सम्पर्क में आने के पूर्व से ही था। उनके पिता यहाँ रामनगर (काशी राज्य) में बगीचों के दरोगा थे। जिज्जा जी काश्मीरी ब्राह्मण हैं। रियासत से जीविका मिलने के कारण दरबारी कला में कुशलता प्राप्त कर लेना जन्मसिद्ध अधिकार होता है। जिज्जा जी इस कला में निपुण हैं। काशी नरेश महाराज आदित्य नारायण सिंह के दरबार में उन्हें मुसाहब के पद पर कुछ समय तक रहने का अवसर भी मिला था।

काशी में रहने पर जिज्जा जी प्रसाद मंडली के नियमित सदस्य थे। प्रसाद जी के यहाँ घन्टों बैठ कर मनोरंजन की वह सृष्टि करते रहते थे। प्रसाद जी के कहने पर मैंने उनकी एक कहानी 'मधुकरी' के संकलन में रख ली थी। हिन्दी कहानियों के बाल्यकाल में जिज्जा जी ने भी कई कहानियाँ लिखी थीं इसलिए ऐतिहासिक क्रम के नाम पर उनकी एक कहानी को स्थान मिल सकता था। प्रसाद जी के आदेशानुसार जिज्जा जी को भी स्थान मिला था। उनके प्रति प्रसाद जी की सद्भावना थी और वे बराबर उनका समाचार पूछते थे। मेरे कलकत्ता जाने पर जो पत्र उन्होंने मेरे पास लिखा था उससे भी यह भाव विदित होता है।

साहित्य में आदर्शवाद के संरक्षकों का कहना है कि लेखक का व्यक्तिगत जीवन चाहे जितना भी कलुषित हो उसकी आभा साहित्य में न आनी चाहिए, जिज्जा जी भी इसी का समर्थन करते हैं। लेकिन जब जीवन ही साहित्य बन जाता है तब कहाँ तक इस नियम का पालन हो सकता है यही बात मेरी समझ में नहीं आ पाती थी। जिज्जा जी के दो कार्ड उस समय की मेरी फाइल में हैं, जब कलकत्ते में गर्दे जी के साथ वह कार्य करते थे।

श्री कृष्ण सदेश
कलकत्ता
१–६–१९२९

प्रिय व्यास जी,

सप्रेम वन्दे। जब से गये तब से कोई चिट्ठी भी नहीं लिखी। चचा (श्री मुकुन्दीलाल गुप्त) से आपकी कुशल मालूम हुई थी। यहाँ सेठ जी की दिल्लगी देखिये। 'मधुकरी' की केवल एक प्रति मुझे दी, जिसे मैंने उन्हें फिर लौटाल दी। अब आप से मेरी यही प्रार्थना है कि यदि आप दो या तीन मधुकरी मुझे भेज सकें तो इसके लिये मैं आप का बहुत कृतज्ञ रहूँगा। बाबू साहब (प्रसाद जी) से भी पूछ लीजियेगा। आशा है आप सब प्रसन्न होंगे, उत्तर शीघ्र।

चिरस्नेही
विश्वम्भर नाथ जिज्जा

इस कार्ड के उत्तर में मैंने उन्हें लिखा था कि मधुकरी के प्रत्येक लेखक की इस तरह की माँग कैसे पूरी की जा सकेगी इसे आप ही विचार कीजिये। तब उनका दूसरा कार्ड मिला।

कलकत्ता
१९-६-१९२९

प्रिय व्यास जी,

क्यों, सेठ जी से गहरी 'रायल्टी' लेकर मस्त हो गये। और, यारों को झाँसा दिया? मुझे बनाते हो कि, 'सेठ जी ने सिर्फ २५ प्रतियाँ दीं!' और मोटी 'रायल्टी' हड़प ली, सो उसे डकार ही गये। वाह मेरे शेर, कमाल है! खैर, साहित्य सेवा करके कुछ कमाया तो—यह क्या कोई कम तारीफ है? कौन कहेगा कि तुम सर्वश्रेष्ठ कहानियों का संग्रह निकाल कर तुम भी सर्वश्रेष्ठ साहित्य सेवी नहीं हो! क्यों नहीं हो—कमाल है! कमाल है!!

यह भी क्या 'लेक रोड' की सैर थी, जो तुमने डाक्टर से कहा—'नहीं जिज्जा को न ले जाना, नहीं तो मज़ा न आयगा। जिज्जा के जाने से सब मज़ा किरकिरा हो जायगा...'' क्यों उस्ताद, कैसा निश्छद्म में तुम ने उस दिन मज़ा लिया था, और यह मुझे अब मालुम हुआ कि मेरे जाने से विनोद का मजा किरकिरा हो जायगा। धन्य हो! बलिहारी है!

विश्वम्भरनाथ जिज्जा

पहले कार्ड से दूसरे कार्ड तक केवल १८ दिनों के समय में जिस प्रकृति के व्यवहार में इतना अन्तर हो सकता है उसके सम्बन्ध में अपनी ओर से कुछ लिखना व्यर्थ है। पहले कार्ड में सप्रेम वन्दे और चिरस्नेही का प्रयोग था, दूसरे में वह स्थान पूरा नहीं किया गया। इसके अतिरिक्त सहसा आप से तुम हो जाना कितना शिष्टता सूचक है!

मैंने यह कार्ड प्रसाद जी को दिखलाया। मैंने उनसे कहा कि महज एक पुस्तक के लिए जो इस तरह का पत्र लिख सकता है उसके लिए क्या कहा जाय। मैंने उनसे यह भी कहा कि यह 'तुम' का प्रयोग तो मुझे

गाली से भी भयानक मालुम पड़ा क्योंकि सिर्फ आप ही मेरे लिए इसका प्रयोग कर सकते हैं और अन्य किसी को इस शब्द के प्रयोग का अधिकार कैसे प्राप्त हो गया?

उन्हें भी इसका दुख हुआ। फिर भी उन्होंने कहा कि एक प्रति और देकर उनकी माँग पूरी कर दो।

विश्वम्भरनाथ जिज्जा के स्वभाव से परिचित होकर अब मैं प्रसाद सम्बन्धी मानहानि वाले मुकदमे के विषय में अपनी जानकारी प्रकट करूँगा।

५ नवम्बर १९४९ ई० को इंडियन प्रेस से प्रकाशित होने वाला साप्ताहिक 'देशदूत' में मेरा प्रसाद पर लिखा हुआ संस्मरण ६ अंकों (११ दिसम्बर १९४९ ई०) में पूर्ण हुआ था। उसके प्रकाशित होते ही मेरे विरुद्ध साहित्यिक आक्रमण हुआ।

मेरे प्रकाशित संस्मरण के विरोध में जिज्जा जी का एक प्रतिवाद 'देशदूत' में ही १८ दिसम्बर १९४९ ई० को प्रकाशित हुआ था। सम्पादक ने लेख के आरम्भ में एक नोट लगाया था—स्वर्गीय प्रसाद जी के सम्बन्ध में हम पंडित विनोद शंकर व्यास के कई लेख देशदूत के गतांकों में प्रकाशित कर चुके हैं। श्री जिज्जा जी स्वर्गीय प्रसाद जी के प्रमुख मित्रों में हैं। इस लेख में जिज्जा जी ने व्यास जी के लेख का प्रतिवाद किया है, जो पठनीय तथा साहित्यिक जानकारी से पूर्ण है।

मेरे लेख पर सम्पादकीय नोट था—"हिन्दी में साहित्यिक संस्मरणों का अभाव है। अँगरेजी साहित्यकारों के संस्मरण का साहित्य विशेष रूप से समृद्ध है। हिन्दी में ऐसे संस्मरणों की आवश्यकता है, जो वास्तविकता से पूर्ण तथा जीवन के निकटतम स्पर्श से सम्बद्ध हों। सुप्रसिद्ध कथाकार श्री विनोद शंकर व्यास स्वर्गीय कलाकार प्रसाद जी के निकटतम

सपर्क में रहे हैं। ऐसी स्थिति में प्रसाद जी का यह सस्मरण हिन्दी संसार में एक अपूर्व रचना प्रमाणित होगी "संस्मरण रोचक और पठनीय है।"

विश्वम्भर नाथ जिज्जा के प्रतिवाद का जो मैंने उत्तर दिया उसे १ जनवरी १९५० के अंक में प्रकाशित कर सम्पादक ने यह टिपणी लगायी—"'देशदूत' के गताक में पडित विनोद शङ्कर व्यास के 'स्वर्गीय श्री जयशङ्कर प्रसाद' शीर्षक लेख के उत्तर में हम श्री विश्वम्भर नाथ जिज्जा का लेख प्रकाशित कर चुके हैं। इस लेख में व्यास जी ने जिज्जा जी के लेख का उत्तर दिया है, जो नीचे दिया जाता है। क्यों कि भविष्य में इसका शीघ्र अत होना सभव नहीं जान पड़ता। आशा है दोनों ओर के आलोचक हमें क्षमा करेंगे।"—सम्पादक।

अन्त मे इस साहित्यिक द्वन्द्व के समाप्त होने के कई वर्ष बाद श्री जिज्जा जी श्री केदार नाथ शर्म्मा चित्रकार के साथ मेरे यहाँ आये। केदार बाबू उन्हें साथ ले आये थे कि आपस का मनोमालिन्य दूर हो जाय। वह हम दोनों के साथी हैं। उनका कहना था कि जीवन के पिछले पहर में आपस में मैल नहीं रहनी चाहिए।

और मैं समझता हूँ कि उनका विचार उचित और गूढ है।

गंगा हज्जाम

सब के बाद एक नाम भूल कर भी याद आ जाता है वह है गंगा हज्जाम का। प्रसाद के सेवकों में वह प्रमुख था। उसे देख कर कोई कल्पना भी नहीं कर सकता था कि वह नापित है। उसका गौर वर्ण, छरहरा बदन, कुछ नीली आँखें अपनी विशिष्टता का प्रदर्शन करतीं थीं। प्रसाद के संसर्ग में रहने वाले सभी उसके चिरपरिचित थे।

बेहद बातूनी था वह। शायर भी था। बनारसी कजरी का जो दंगल होता था उसमें वह अखाड़े का उस्ताद समझा जाता था।

प्रसाद के अन्तिम काल में इस हज्जाम की 'डिप्लोमेसी' प्रसाद से संसर्ग रखने वाले सभी के ऊपर चल रही थी। इसका व्यक्तित्व स... [illegible] बन कर चमक रहा था।

दो वर्ष पहले वह एक दिन दशाश्वमेध घाट पर मुँह गाड़ कर मात करने लगा। वह तो ... र (हजामत का सामान) लेकर फिर घाट पर बैठता था।

उ... का अन्त ... करुणामय हुआ।